आलोचना

५

सम्पादक : डा० नामवर सिंह

त्रैमासिक

आलोचना त्रैमासिक
सम्पादक : नामवर सिंह • प्रबन्ध सम्पादिका : शीला सन्धू

इस अंक में

पूर्णांक ४२, अप्रैल–जून १९६८, इस अंक का रु० ३.०० वार्षिक रु० १२.०० रजिस्ट्री से रु० १४.४०
शिक्षा निदेशालय, दिल्ली के परिपत्र संख्या डी० ई० वी/८/एस ई–/लायब्रेरी/मैग०/१९६७-६८
दिनांक २०-१-६८ के अनुसार स्कूलों के पुस्तकालयों और वाचनालयों के लिए स्वीकृत

आलोचना

अप्रैल-जून, '६८

काव्य की रचना-प्रक्रिया

गजानन माधव मुक्तिबोध

रचना-प्रक्रिया के संबंध में मतों की भिन्नता स्वाभाविक है। इसका एक कारण तो यह है कि रचना-प्रक्रियाएँ स्वयं भिन्न-भिन्न होती हैं। वे कवि-स्वभाव, कवि-दृष्टि और विषय-वस्तु के अनुसार, बनती-बदलती रहती हैं। रचना-प्रक्रिया का कोई निर्विशिष्ट सामान्य-रूप नहीं है, यद्यपि यह सही है कि उस प्रक्रिया के मूल तत्त्व सर्व-सामान्य हैं।

इस बात को हम यों समझें। संवेदनात्मक उद्देश्य, कल्पना, भावना, बुद्धि-तत्त्व सर्व-सामान्य हैं। उनके कार्य के बिना रचना-प्रक्रिया संभव नहीं है। किन्तु, इन तत्त्वों की विभिन्न मात्राओं, विभिन्न अनुपातों और विभिन्न प्रकार के योगों से विभिन्न विशिष्ट रूप प्राप्त होते हैं। ये योग विभिन्न संवेदनात्मक उद्देश्यों के अनुसार घटित होते हैं। ये संवेदनात्मक उद्देश्य रचनाशील मन की अपनी निधि हैं, और उस पूरे अन्तर्जगत् का अंग हैं कि जो अन्तर्जगत् कवि ने पाया और विकसित किया है। यह अन्तर्जगत् बाह्य जगत् का आत्मकृत संशोधित-सम्पादित अन्तस्संस्कृत रूप है, और उस क्रिया-प्रतिक्रिया की गतिमान परम्परा की उपज है कि जो क्रिया-प्रतिक्रिया लेखक बाल्यकाल से बाह्य के प्रति करता आया है। संक्षेप में, रचना-प्रक्रिया के भीतर, न केवल भावना, कल्पना, बुद्धि और संवेदनात्मक उद्देश्य होते हैं, वरन् वह जीवनानुभव होता है, जो लेखक के अन्तर्जगत् का अंग है, वह व्यक्तित्व होता है जो लेखक का अन्तर्व्यक्तित्व

गजानन माधव मुक्तिबोध की अप्रकाशित पांडुलिपियों की छानबीन में प्राप्त यह निबंध पहली बार 'आलोचना' में प्रकाशित हो रहा है। निबंध की पांडलिपि श्री रमेश मुक्तिबोध के सौजन्य से प्राप्त हुई है। 'आलोचना' आगामी अंकों में भी मुक्तिबोध की अन्य अप्रकाशित कृतियाँ प्रकाशित करेगी।

है, वह इतिहास होता है, जो लेखक का अपना संवेदनात्मक इतिहास है। और, केवल यही नहीं होता।

बाह्य से प्राप्त ज्ञान-निधि और भाव-परम्परा लेखक के अन्तर्जगत् में स्थान पाकर, उसके (लेखक के) व्यक्तित्व की आन्तरिक आवश्यकताओं की पूर्ति की दिशा में, अपने विभिन्न रूप (उसके हृदय में) गठित करती हुई उसकी अपनी ज्ञान-निधि और भाव-परम्परा बन जाती है। बाह्य से प्राप्त ज्ञान और भाव लेखक के अन्तर्व्यक्तित्व में ऐसे घुल-मिल जाते हैं कि वे उसके निजी हो जाते हैं। इसीलिए, कोई भी लेखक अपने युग से केवल प्रभावित नहीं होता, वह अपने युग का अंग होता है।

काव्यकला-संबंधी जितनी भी समस्याएँ हैं वे इस पूरी-की-पूरी प्रक्रिया के किसी स्तर-विशेष से संबंधित होती हैं। उदाहरण के लिए, ऐसी समस्याएँ लीजिए जिनको पुराने प्रगतिवाद ने उठाया। कहा गया कि लेखक को अपने युग का सही-सही प्रतिनिधित्व करना चाहिए, इस प्रकार से कि वह, युग की ह्रासशील दशा के विरुद्ध प्रगतिशील प्रवृत्तियों को उभारे, समाज में जो शक्तियाँ विषमता, अनाचार और उत्पीड़न को कायम रखना चाहती हैं, उनके विरुद्ध वह साम्य-मूलक समाज के आदर्श की स्थापना करे और पाठक को वैसी प्रेरणा प्रदान करे।

इस प्रकार के आग्रह के विरोध में जो कहा गया वह सबको विदित है, यह कि लेखक स्वतंत्र है, और नेताओं तथा शासकों के आदेश को मानने के लिए वह बाध्य नहीं है, कि इस प्रकार के आग्रहों से, साहित्य में रेजीमेन्टेशन होता है।

ये सब विवाद हिन्दी-साहित्य के इतिहास की वस्तु हो गये हैं। किन्तु, इस विवाद के मूल कारण-स्रोत, भले ही आँखों से ओझल हो जाएँ, वे लुप्त और नष्ट नहीं हुए हैं। आज भी लेखक के दायित्व की बात की जाती है। यही क्यों? एक के देखादेखी दूसरा भी एक ही प्रकार के भाव और शैली का प्रयोग करता है, एक ही प्रकार की परम्परा और प्रणाली को अपनाता है, और इस प्रकार एक विशेष प्रकार के काव्य की विशिष्ट धारा और रूढि बन जाती है, भाव-रूढि, रूप-रूढि, शैली-रूढि। हाँ, यह सही है कि कवि-स्वभाव के अनुसार, किंचित् भेद यत्र-तत्र दिखाई देता है। फिर भी, वह काव्य-प्रवृत्ति प्रणाली और रूढि का रूप तो धारण कर ही लेती है, भले ही विशिष्ट कवियों में हमें विशिष्ट भिन्नताएँ भी दिखाई दें, जैसे प्रसाद और महादेवी के काव्य में, या शमशेर तथा उसी शैली के किसी दूसरे कवि में। तो क्या युग स्वयं रेजीमेन्टेशन नहीं करता!! रीतिकाल में विशिष्ट शैली और विशिष्ट भाव-प्रणाली की कविता ही क्यों हुई? क्या वह रेजीमेन्टेशन नहीं था!! और हम अपने युग की शृंखलाओं को भी क्यों स्वीकार करें!! यह सही है कि कोई भी लेखक अपने व्यक्तित्व से, अपने इतिहास से अर्थात् अपने देश-काल से स्वतंत्र नहीं है। किन्तु, जब वह सचमुच स्वतंत्र होने का प्रयत्न करता है तो इसका अर्थ यह है कि युग बदलने के लक्षण सामने आ रहे हैं तो दूसरी ओर यह भी कि लेखक आदर्श अनुगमन करने के लिए भीतर से बाध्य हो उठा है, क्योंकि (उपर्युक्त अर्थ में) स्वतंत्रता, वस्तुतः एक आदर्श है, वह वास्तविकता नहीं है। अपनी युग की सीमाओं के परे देखकर, परे जाकर, आगे के मार्ग को देखना महत्त्वपूर्ण घटना है। इस बात को हम कैसे भूल सकते हैं।

आज भी हमें (नये कवियों को) भारतीय संस्कृतिवादी पुरोहित पाठ पढ़ाते रहते हैं, कि कवियों को यह करना चाहिए, वैसा होना चाहिए। और, इस प्रकार के आग्रह और प्रश्न आगे भी उठते रहेंगे।

इन सारे प्रश्नों का संबंध कवि के अन्तर्जगत् से है। कवि से जब हम यह कहते हैं कि उसे ऐसा करना चाहिए और वैसा नहीं लिखना चाहिए, तो, वस्तुतः हम उसके अन्तर्जगत् (और उसके अन्तर में स्थित जीवन-मूल्य-पद्धति) पर आक्षेप कर रहे हैं। इस प्रकार के आग्रह उसके अन्तर्जगत् में संशोधन करने के आग्रह हैं।

ये आग्रह ग़लत हैं, या सही हैं, यह मैं नहीं कह रहा हूँ। इस प्रकार के बाह्य से उद्गत आग्रह, स्वयं लेखक मान सकता है। ठीक यहीं लेखक की सिनसियारिटी का प्रश्न उठता है। बाह्य से उद्गत आग्रहों को मानने वाले ऐसे बहुतेरे लेखक हो सकते हैं, जो अवसरवादी प्रेरणाओं से वैसा मानने के लिए तैयार हों, और बाह्य से उद्गत आग्रहों को स्वीकार कर लें। किन्तु, कुछ लेखक निःसन्देह ऐसे भी हो सकते हैं जो स्वेच्छा-पूर्वक और आत्म-प्रेरणापूर्वक इन बाह्योद्गत् आग्रहों को मानें और उन आग्रहों में प्रकट जीवन-दृष्टियों को आत्मसात् करके उन दृष्टियों को ही अपने अन्तर्जगत् का अंग बना लें। लेखक की सिनसियारिटी का प्रश्न, वस्तुतः, उसके अन्तर्जगत् की अभिव्यक्ति से सम्बन्धित है। यदि वह अभिव्यक्ति कृत्रिम है

तो निःसन्देह वहाँ सिनसियारिटी नहीं है। किन्तु कृत्रिमता केवल इन सिनसियारिटी की ही उपज नहीं होती, वह अकवित्व की उपज होती है अर्थात् अन्तर्जगत् की निर्जीवता और जड़ता का प्रमाण हो सकती है।

इसी प्रकार का प्रश्न कवि की निःसंगता का प्रश्न है। जब बाह्य से आग्रह बलवान होते हैं और कवि उनके दबाव को सह नहीं पाता तो वह अपनी मूलभूत निःसंगता का सिद्धान्त प्रतिपादित करते हुए कहता है कि सृजन अकेले में होता है, साहित्य व्यक्ति की उपज है, जो व्यक्ति के लिए है (बाह्य आग्रहों के दबाव और प्रभाव के निरोध के लिए, प्रतिरोध के लिए, उपर्युक्त तर्क प्रस्तुत किया जाता है।)

यह सही है कि सृजन अकेले में होता है। ऐसी बहुत-सी बातें होती हैं, जो बिलकुल अकेले में होती हैं। कहा जा सकता है कि वहाँ भी संग होता है। किन्तु, फिर भी, वह ऐकान्तिक संग समाज-स्वीकृत या समाज-निन्दित होता है। संक्षेप में, मनुष्य की ऐकान्तिक दशा भी समाज के लिए विचारणीय होती है, बशर्ते कि उसका कोई सामाजिक परिणाम हो या सामाजिक प्रभाव हो। ठीक इसी प्रकार, सृजन की ऐकान्तिकता में भी सहचरत्व होता है, संग होता है। इस संग या सहत्व के बिना सृजन संभव नहीं है। इस सृजन का परिणाम अर्थात् कलाकृति, पाठकों के हाथ में जाने पर, समाज में प्रवेश करती है, और समाज में अपना प्रभाव उत्पन्न करती है; इसीलिए समाज उस पर सोचता-विचारता है, और जिस कलाकृति का श्रेष्ठतम प्रभाव उत्पन्न होता है, उसका रचयिता समाज द्वारा पूज्य होता है।

संक्षेप में, इस प्रकार के जितने भी प्रश्न हैं वे कलाकार द्वारा आभ्यन्तरी-कृत जगत् से सम्बन्ध रखते हैं, अथवा आभ्यन्तरीकरण की प्रक्रिया से सम्बन्ध रखते हैं, या कलाकार की उस स्थिति से सम्बन्ध रखते हैं कि जब कलाकार स्वतः-संस्कृत आभ्यन्तरीकृत जगत् की अभिव्यक्ति करता है अर्थात् सृजन करता है। इसीलिए, कलाकृति में व्यक्त व्यक्तित्व की भी आलोचना की जाती है। इसीलिए कहा जाता है कि अमुक कवि की अतिभावुकता अवांछनीय है अथवा उसकी भाव-दृष्टि में दोष है, अथवा लेखक साम्प्रदायिक (धार्मिक अर्थ में नहीं) दृष्टि से जीवन-जगत् की व्याख्या करता है अपनी कलाकृति में, इत्यादि-इत्यादि। दूसरे शब्दों में, कलाकृति में प्रकट अन्तर्जगत् और कवि के व्यक्तित्व की समीक्षा और उसका मूल्यांकन किया जाता है, कहा जाता है कि यह भाव कृत्रिम है, या इसमें लेखक की ईमानदारी है या उसने जीवन को खूब देखा-परखा है।

आलोचना की दृष्टि से जो बात सबसे पहले सामने आती है, कवि-कर्म और रचना-प्रक्रिया की दृष्टि से वह सबसे अन्तिम है। रचना-प्रक्रिया के प्रवाह में रहकर लेखक, अपने भावों की, शब्दों से, तुलना करता है, जो शब्द सर्वाधिक प्रातिनिधिक हैं उनकी योजना करता है, वह शब्द-साधना करता है; साथ ही, संगति और निर्वाह को साधता चलता है, वह अपने ही भावों के उत्स को संयमित कर, उनका सम्पादन-संशोधन करता है—संगति और निर्वाह के हेतु। जब उसकी शब्दाभिव्यक्ति, उसी के लिए, रमणीय हो जाती है, तब वह संतुष्ट हो जाता है, भले ही आगे चलकर वह उसमें, नवीन-प्राप्त सूक्ष्म-दृष्टि के अनुसार, फिर से संशोधन करे।

किन्तु, पाठक और आलोचक, किसी कलात्मक अभिव्यक्ति के सिंहद्वार से, सीधे अन्तर्जगत् में प्रवेश करते हैं, वह अन्तर्जगत् जो किसी कलाकृति में उद्घाटित हुआ है, वह अन्तर्जगत् जिसमें कलाकार का व्यक्तित्व, उसके जीवनानुभव, उसकी भाव-दृष्टि समायी हुई है। पाठक-आलोचक का मन उस अन्तर्जगत् में रमता है, उसका रस लेता है, उसमें विचरण करता है, और यदि उस अन्तर्जगत् में उसे कहीं (अपने लिए) बाधा दिखाई दी तो वह वहाँ ठहर जाता है और सोचने लगता है। उसे कलाकार का अन्तर्जगत्, उसमें समाया हुआ व्यक्तित्व और भाव-दृष्टि आकर्षित करती है और वह यह ढूँढ़ने लगता है और पा जाता है कि वह भाव-दृष्टि उसके लिए (और सभी के लिए) क्यों महत्त्वपूर्ण है, या नहीं है।

संक्षेप में, रचना-प्रक्रिया का जो सर्वाधिक मूल-स्थित, सर्वाधिक प्रच्छन्न किन्तु क्रमशः, प्रकट होनेवाला जो अंश है, वह पाठक और आलोचक के लिए सर्व-प्रथम है। कलाकार, रचना के समय, शब्दाभिव्यक्ति के संघर्ष में, संगति और निर्वाह के संघर्ष में, भावों के उत्स को प्रातिनिधिक रूप देने के यत्न में लीन होता है। यह उसका तात्कालिक संघर्ष है। पाठक-आलोचक का यह तात्कालिक यत्न नहीं है। कलात्मक अभिव्यक्ति उसके लिए कलाकृति का केवल सिंहद्वार है, जिसमें से गुज़रकर वह अन्तर्जगत् के क्षेत्र में विचरण करता है। इसीलिए, मैंने कहा कि पाठक-आलोचक के ध्यान का जो

प्राथमिक केन्द्र है, वह अन्तर्जगत् है और रचयिता के ध्यान का जो प्राथमिक केन्द्र है वह है अन्तर्जगत् की प्रातिनिधिक शब्दाभिव्यक्ति और कलात्मक संगति और निर्वाह।

कलात्मक अभिव्यक्ति के सिंहद्वार में से गुज़रकर, अन्तर्जगत् में विचरण कर चुकने, रस ले चुकने, व्यक्तित्व और भाव-दृष्टि का प्रभाव ग्रहण कर चुकने के उपरान्त, पाठक-आलोचक, अन्तर्जगत् के प्रभाव के परिणामस्वरूप ही, सहसा सोचने लगता है कि प्रभाव उत्पन्न करने के वे उपादान कौन-कौनसे हैं, जिन्होंने सफल अभिव्यक्ति की तैयारी की अथवा सफलता के मार्ग पर चलते-चलते लेखक ने कौन-सी बाधाएँ उत्पन्न कर दीं। संक्षेप में, अब वह रूप और शिल्प के सम्बन्ध में सोचने लगता है। संक्षेप में, किसी कलाकृति को लेकर, पाठक-आलोचक की यात्रा भिन्न दिशा की ओर होती है, सृजन करते समय कलाकार की यात्रा उसके विपरीत दिशा की ओर होती है। इस तथ्य को हृदयंगम करना आवश्यक है।

तब समझ में आयेगा कि जीवन-जगत् के आभ्यन्तरीकरण की प्रक्रिया कलाकार के लिए क्यों महत्त्वपूर्ण है। यह प्रक्रिया कलाकार के वास्तविक जीवन में चलती रहती है; किन्तु क्या वह समुचित रूप से और प्रबुद्ध दृष्टि से मुक्त होकर चलती रहती है? यदि कलाकार का जीवन, उसका बाह्य और मानसिक जीवन तुच्छ है, अर्थात् नव-नवीन संवेदनात्मक ज्ञान और ज्ञानात्मक संवेदनाओं से हीन है, यदि उसमें उदार सहानुभूतियों का विस्तार नहीं है, यदि उसमें नितान्त आत्मबद्धता है, तो फिर ऐसा अन्तर्जगत्, कलाभिव्यक्ति के लिए महत्त्वहीन है। संक्षेप में, उस अन्तजगत् में महत्त्व की सूचनाएँ चाहिए। [यहाँ महत्त्व का अर्थ है, जो महत्त्वपूर्ण है वह]

यही कारण है कि आदिकाल से कवि को महान् माना गया है, उसके अन्तर्जगत् में महत्त्व की स्थापना को देखकर। मैं यह नहीं कह रहा हूँ कि कवि को अध्यात्मवादी, आदर्शवादी, अमुक-तमुक-वादी होना चाहिये। मैं सिर्फ यह कहना चाहता हूँ कि कवि के अन्तर्जगत् की ओर आदिकाल से ध्यान गया है, और उसके महत्त्व की स्थापना की गई है।

किन्तु, आधुनिक युग में, जबकि व्यक्ति पर तरह-तरह के दबाव हैं, उनमें से एक दबाव समाज का भी होता है। उसी प्रकार, कलाकार पर भी समाज का दबाव होता है। समाज के दबाव के माध्यम भिन्न-भिन्न प्रकार के होते हैं। परम्परा का वहन समाज का दबाव नहीं तो क्या है। उसी प्रकार, प्रचलित काव्य-प्रणाली से अपनी संगति एक अन्य प्रकार का सामाजिक दबाव ही है। हाँ, यह सही है कि ये दबाव प्रत्यक्ष नहीं, वरन् अप्रत्यक्ष होते हैं। जिस प्रकार इनडायरेक्ट टेक्सेशन (अप्रत्यक्ष कर-व्यवस्था) उपभोक्ता को नहीं खलती, उसी प्रकार समाज के अप्रत्यक्ष दबाव भी सामने नहीं आते, किन्तु, बराबर सक्रिय रहते हैं।

उसी प्रकार, वैचारिक आन्दोलन के रूप में भी कई सामाजिक दबाव होते हैं। ये विशेष आग्रहों, अनुरोधों का रूप धारण करते हैं। इस प्रकार के विशेष आग्रह-अनुरोध कभी केवल कलात्मक शब्दावली का रूप भी धारण करते हैं। कला के एक विशेष पैटर्न के आग्रह, कला-सम्बन्धी एक विशेष भाव-दृष्टि के आग्रह, कोई वैचारिक दृष्टि अपनाने के आग्रह, लोकोपयोगी कला-सृजन करने के आग्रह सब वस्तुतः सामाजिक दबाव ही हैं, किसी में किसी भाव-दृष्टि का आग्रह है तो किसी में किसी पैटर्न का आग्रह।

ये सब दबाव या आग्रह उचित होते हैं, यह कहना गलत है, उसी प्रकार ये सब अनुचित होते हैं यह कहना भी उतना ही गलत है। उनमें से बहुत से आग्रह न केवल सही वरन् पूर्णतः उचित हो सकते हैं।

किन्तु, आग्रह-कर्ता जब एक वातावरण निर्मित करके कलाकार पर दबाव लाना चाहते हैं तो वे यह नहीं देखते कि दबाव का, वस्तुतः क्या प्रभाव होगा। हाँ यह सही है कि ऐसे बहुतेरे निकल आते हैं जो अपनी अपरिपक्वावस्था के कारण, अथवा विशुद्ध अवसरवादी दृष्टि से प्रेरित होकर, दबाव ग्रहण करके, उस दबाव के अनुसार कलाकृति प्रस्तुत करते हैं, चाहे घटिया ही क्यों न सही। शेष, जो दबाव स्वीकार करना नहीं चाहते, और चाहते हुए भी नहीं ही कर सकते, वे चुप बैठ जाते हैं, अलग हट जाते हैं और तिरोहित होने में ही अपना कल्याण समझते हैं। मेरे खयाल से ये दोनों परस्पर-विपरीत प्रतिक्रियाएँ या परस्पर-वैपरीत्य सही भी हो सकता है, गलत भी। यह विशेष परिस्थिति पर निर्भर है कि कौन-सा गलत है, कौन सा सही।

किन्तु, इन आग्रहों की आधार-भूमि, इन आग्रहों के मूल-स्रोत यदि व्यापक मानवीय सहानुभूति और करुणा से समन्वित हैं, यदि किसी व्यापक मानवीय आदर्श से प्रेरित हैं तो

यह अनुमान करना ग़लत नहीं कि उन्हीं व्यापक सहानुभूतियों और व्यापक मानवीय आदर्शों का कुछ-न-कुछ तत्त्व या कुछ-न-कुछ अंश लेखक भी अपने में आत्मसात किये हुए है। अतएव, किसी सामान्य भूमि पर आग्रह-कर्ता और लेखक दोनों एकत्र हो सकते हैं, बशर्ते कि (और यह बड़ी शर्त है) आग्रह-कर्त्ता महोदय रचना-प्रक्रिया में भी सूक्ष्म दृष्टि रखते हों, और उस रचना-प्रक्रिया का एक सिरा अर्थात् लेखक के हृदय में तड़पते हुए जीवनानुभव, जीवनानुभवों के सामान्यीकरण (ज्ञान) और भाव-दृष्टि को खूब समझते हों। पण्डित रामचन्द्र शुक्ल छायावादी रचना-प्रक्रिया को नहीं समझते थे, इसीलिए, उसका विरोध करते रहे। अधिक-से-अधिक, छायावाद को उन्होंने 'अभिव्यक्ति की लाक्षणिक प्रणाली' ही माना। डॉ० रामविलास शर्मा को प्रयोगवादी या नई कविता में, 'असुन्दर' और 'विद्रूप' से अधिक कुछ नहीं दिखता। शिवदानसिंह चौहान को इस बात का खेद है कि आज की कहानी में 'कथानक' तत्त्व का लोप हो रहा है। अतएव, ऐसे आलोचकों के आग्रह, रचना-प्रक्रिया में सूक्ष्म दृष्टि के अभाव में, लादे जा रहे-से और खोखले मालूम होते हैं। कारण यह कि नई प्रकृतियों और प्रवृत्तियों की रचना-प्रक्रिया में सूक्ष्म-दृष्टि रखने के लिए, आलोचक को संवेदनात्मक जीवन-ज्ञान आवश्यक है—ऐसे जीवन का ज्ञान जो नवीन प्रवृत्ति-रूप में सामने आया हो। इसका अर्थ यह नहीं है कि उनके आग्रह, उनके अपने मान्यता रूप में, स्वभावत: गलत हैं, नहीं, वे सही भी हो सकते हैं। किन्तु, जब तक वे लादे जाएँगे, रचना-प्रक्रिया में, सूक्ष्म दृष्टि के अभाव में, वे खोखले और निरुपयोगी ही साबित होंगे, और अपने-आपमें उनके सहीपन के बावजूद उनका विरोध होता ही रहेगा।

दूसरी ओर, भले ही कोई लेखक, वैचारिक दृष्टि से कोई बाह्य आग्रह स्वीकार कर ले, जब तक उस आग्रह के तत्त्वों का आभ्यन्तरीकरण नहीं होता, जब तक अन्तर्जगत् के तत्त्वों में उसका रंग नहीं चढ़ जाता, जब तक वह हृदय में तड़पते हुए जीवनानुभवों का एक भाग नहीं बन जाता, तब तक उस आग्रह के अनुरूप रचित साहित्य निष्प्राण और कृत्रिम ही रहेगा। लेखक के लिए मुख्य बात आभ्यन्तरीकरण की है। आभ्यन्तरीकरण की प्रक्रिया केवल विचार तक सीमि. नहीं है, वह उससे ज्यादा गहरी, व्यापक और मानसिक है। जब तक लेखक अपने स्वयं के जीवनानुभवों से प्राप्त दृष्टि के रूप में उन्हें नहीं पाता, तब तक आभ्यन्तरीकरण की प्रक्रिया पूरी नहीं हुई यह समझना चाहिए। सच्चा आभ्यन्तरीकरण तो तब होता है, जब कि लेखक ज़िन्दगी में गहरा हिस्सा लेते हुए संवेदनात्मक जीवन-ज्ञान प्राप्त करके उसी भाव-दृष्टि तक स्वयं अपने-आप पहुँचता है कि जो भाव-दृष्टि आग्रह रूप में बाहर से उपस्थित की गई है।

आग्रह कई प्रकार से उपस्थित होते हैं। कुछ कला के नाम पर, कला की शब्दावली में, प्रस्तुत होकर, साहित्य-जगत् का शासन भी करने लगते हैं। कुछ समय तक उनका शासन चलता भी है, लेकिन समाज और राष्ट्र की भिन्न परिस्थितियों में उत्पन्न पीढ़ी कला की शब्दावली में छिपे आग्रहों की निन्दा करती है। उदाहरणत:, सन् १९६० के सैटरडे रिव्यू में टी० एस० इलियट के विरुद्ध ज़बर्दस्त आक्रमण के रूप में लिखा हुआ कार्ल शैपिरो का लेख। महत्त्व की बात यह है कि जीवन-परिस्थिति में परिवर्तन के साथ-साथ भाव-दृष्टि बदलने लगती है और यथार्थ के नये-नये पहलू सामने आते हैं, जिन्हें कलात्मक अभिव्यक्ति देने के लिए, उपयुक्त शब्द-सम्पदा और परम्परा नहीं होती। लेखक को नये सिरे से प्रयत्न करना पड़ता है। भले ही पुरानी पीढ़ी को नई पीढ़ी के काव्य में कोई सौन्दर्य न दिखाई दे, किन्तु नई पीढ़ी को उसमें ही अपना आत्म-प्रकाश अत: सौन्दर्य दिखाई देता है। पुराने लेखक आग्रह-रूपी अस्त्रों से नयों का वध करने का प्रयत्न करते ही रहते हैं। मज़ा यह है कि आग्रह कला और सौन्दर्य के नाम पर होते हैं, फिर भी नवीन प्रवृत्ति वालों को वे स्वीकरणीय नहीं हो पाते।

संक्षेप में, यथार्थ परिवर्तनशील होता है। अतएव, आग्रह भी दो प्रकार के होते हैं—एक वे जो कला या दृष्टि के नाम पर, परिवर्तन-क्रम की पिछली अर्थात् विगत कड़ी या सीढ़ी की ओर खींचते हैं और वे जो परिवर्तन-क्रम की अगली कड़ी या सीढ़ी की ओर खींचते हैं। यह अगला या पिछलापन यथार्थ के परिवर्तन-क्रम को देखकर पहचाना जाना चाहिए, न कि वैचारिक दृष्टि से उच्चतरता या निम्नतरता की दृष्टि से। ऐसा मैं क्यों कह रहा हूँ?

यह करना इसलिए आवश्यक है कि जीवन-परिस्थिति में परिवर्तन से और यथार्थ के नये-नये पहलुओं के खुलने से उनके आभ्यन्तरीकरण के द्वारा लेखक का जो संवेदनात्मक वैयक्तिक इतिहास बनता है वह इतिहास पूर्ववर्ती प्रवृत्ति के

कवियों से सर्वथा भिन्न होता है, अतएव इस नवीन प्रवृत्ति वाले की रचना-प्रक्रिया भी बदल जाया करती है और तदनुसार अभिव्यक्ति शैली भी। अमरीका में आज नवीन काव्य-शैली का जो प्रचलन है, उसके विरुद्ध पुराने कवियों का आक्रोश सर्वथा स्वाभाविक है। उसी प्रकार, नवीन काव्य-शैली वालों को अपने अस्तित्व के लिए पुरानों का प्रतिरोध करना पड़ता है। यह विरोध वैचारिक दृष्टि से उच्चतरता या निम्नतरता का परिणाम नहीं है, वरन् एक काव्य-प्रवृत्ति की विशेष पैटर्न को और उसके साथ उसके अन्तर्गत समाये (विगत) जीवन-तत्त्वों को समेटे रखने और स्थायी बनाने का प्रयत्न है। इसके विरुद्ध नये का विद्रोह होना स्वाभाविक ही है। दूसरे शब्दों में, पुरानी पीढ़ी के लोग, नयी पीढ़ी के लोगों द्वारा आभ्यन्तरीकृत जगत् और आभ्यन्तीकरण-प्रक्रिया में विकसित भाव-दृष्टि और उन दोनों से उत्पन्न अभिव्यक्ति-प्रक्रिया, इन सबको असुन्दर, निषिद्ध और बेकार ठहराने का प्रयत्न करते रहते हैं, कभी कला और सौन्दर्य के नाम पर, कभी आध्यात्मिक आदर्श के नाम पर, कभी सामाजिक प्रगति के नाम पर।

इसका अर्थ यह नहीं है कि लेखक, वैचारिक अथवा भावना की दृष्टि से, जन-विरोधी, लोक-विरोधी, प्रगति-विरोधी हो नहीं सकता। वह बराबर हो सकता है और उसका वैसा होना दिखाई भी देता है। किन्तु, किसी लेखक की विचार-धारा पर आक्रमण करना एक बात है, आभ्यन्तरीकृत यथार्थ की कविकृत व्याख्या पर आघात करना एक बात है, किन्तु, उस पूरी काव्य-प्रणाली पर चोट करना एक अलग बात है, उस पूरी रचना-प्रक्रिया और अभिव्यक्ति शैली पर आघात करना बात ही दूसरी है। जिस प्रकार, आदर्श के शब्द-व्यापार में नितान्त अवसरवाद और बेईमानी दिखाई देती है उसी प्रकार, यथार्थ के उद्घाटन के नाम पर भी अयथार्थ और कृत्रिमता भी सामने आती है। यह तो विशिष्ट-विशिष्ट लेखक की विशिष्ट-विशिष्ट रचनाओं को सामने रखकर ही तय किया जा सकता है।

संक्षेप में, लेखक की रचना-प्रक्रिया के प्राथमिक और निगूढ स्तर अर्थात् लेखक का अन्तर्जगत्, लेखक के अन्तर्जगत् का संवेदनात्मक पुञ्ज, लेखक का समग्र व्यक्तित्व पाठक और आलोचक के लिए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण होता है और उसके आकलन के माध्यम से रस ग्रहण होता है। अतएव, सबसे अधिक वाद-विवाद, सबसे ज्यादा बहस इसी को लेकर होती है।

क्यों होती है? इसलिए कि संवेदनात्मक अन्तर्जगत् अर्थात् जीवनानुभव, रचना-प्रक्रिया के दौरान में, अपने विशेष संवेदनात्मक उद्देश्यों को लेकर अवतीर्ण होते हैं। ये संवेदनात्मक उद्देश्य एक ओर लेखक के अन्तर्व्यक्तित्व का एक भाग हैं, उसके अनुभवात्मक इतिहास से सम्बन्ध रखते हैं, उसने जो कुछ आत्मसात् किया है, जो कुछ पाया और खोया है, उससे नाता रखते हैं, उसकी विद्यमान जीवन-स्थिति और मनोदशाओं से सम्बन्धित रहते हैं। इन संवेदनात्मक उद्देश्यों से प्रेरित होकर ही कलात्मक अभिव्यक्ति होती है। रचनाओं में प्रकट इन संवेदनात्मक उद्देश्यों को ध्यान में रख-कर ही कवि के अन्तर्व्यक्तित्व का, उसके अनुभवात्मक जीवन का, उसकी भाव-दृष्टि का हमें अनुमान होता है। इस प्रकार वे एक ओर अन्तर्व्यक्तित्व को तो दूसरी ओर रचना को एक-दूसरे से जोड़ देते हैं।

जीवन में जो कुछ अर्जित है, जो कुछ संवेदनात्मक ज्ञान और ज्ञानात्मक संवेदना के रूप में प्राप्त है, अर्थात् जो कुछ विशिष्ट अनुभव हैं, और जीवन-जगत्-सम्बन्धी जो कुछ आत्मकृत सामान्यीकरण हैं, जो भी जीवन-मूल्य आत्मसात किए हैं, और जिनके लिए संघर्ष किया है, जो संस्कार, जो आदर्श, जो यथार्थ हृदय का अनन्य अंग बन गया है, वह सबका सब, स्थिर रूप में, व्यक्तित्व का अंग होता है। दैनिक जीवन के दैनिक कार्यों में व्यस्त रहने से हम उस सौन्दर्य-क्षण से दूर रहते हैं, जब मन द्रवित हो जाता है, कल्पना सक्रिय होकर चित्र उपस्थित करते हुए हमें जीवन के रस में डुबोने-सी लगती है, जब हम गहन होकर विस्तृत होने लगते हैं। यह आवश्यक नहीं है कि ऐसे क्षण, हमें अपने अकेले में किसी कमरे में किसी टेबल के पास मिलें और लेखनी लेकर बैठने के लिए मजबूर करें। बिलकुल नहीं। डूबकर फैलने के ये निजी क्षण रास्ते चलते, बात करते, या कभी-कभी बिलकुल भीड़ में या एकान्त में भी मिल सकते हैं, यह भी आवश्यक नहीं है कि ये क्षण हमें अभिव्यक्ति के लिए मजबूर करें। फिर भी, ये अद्वितीय क्षण हैं, प्रतीति के क्षण हैं, क्योंकि ये सौन्दर्य के क्षण हैं, रसात्मक क्षण हैं, सौन्दर्य-क्षण हैं। ये क्षण केवल कलाकार को ही प्राप्त नहीं होते, वे सामान्य जन को भी प्राप्त होते रहते हैं, इन्हीं क्षणों से समृद्ध पाठक, आत्माभि-

व्यक्ति से दूर रहकर भी, अन्य द्वारा रचित कलाकृति में अपनी अभिव्यक्ति देखता है। ये क्षण मानवता के लक्षण हैं, उस मानवता के—जो व्यक्ति और देश से ऊपर रहते हुए भी प्रत्येक हृदय में समायी हुई है।

'स्व' से ऊपर उठना, खुद की घेरेबन्दी तोड़कर, कल्पना-सज्जित सहानुभूति के द्वारा अन्य के मर्म में प्रवेश करना मनुष्यता का सबसे बड़ा लक्षण है। इस प्रकार की व्यापक और उदार सहानुभूति—कल्पनाशील सहानुभूति, मानवता के पिछले इतिहास ने, साहित्य और धर्म ने, कला और संस्कृति ने, संस्कार-रूप में, हमें प्रदान की है। यही नहीं, बुद्धि स्वयं अनुभूत विशिष्टों का सामान्यीकरण करती हुई, हमें जो ज्ञान प्रस्तुत करती है, उस ज्ञान में, 'निबद्ध' 'स्व' से ऊपर उठने, अपने से तटस्थ रहने, जो है उसे अनुमान के आधार पर और भी विस्तृत करने की प्रवृत्ति होती है। भाषा स्वयं सामान्यीकरणों से उत्पन्न है। इस प्रकार, एक ओर तटस्थ रहकर तो दूसरी ओर अपने से ऊपर उठकर, अपने से परे जाकर विस्तार करने की प्रवृत्ति हममें पहले ही से विराजमान रहती है। भावना हमें डुबो देती है और परिचालित करती है, संचलित करती है। संवेदनात्मक ज्ञान के आधार पर और ज्ञानात्मक संवेदनाओं के आधार पर हम एक साथ तटस्थ और तन्मय, अपने से परे और निमग्न, अपने से बाहर और अपने अन्दर एक साथ रहते हैं। सहानुभूतिशील कल्पना और कल्पनाशील सहानुभूति हमें आत्म-विस्तार के लिए उद्यत कर देती है। संक्षेप में, बाह्य और अन्तर का भेद उस समय लुप्त-सा हो जाता है।

ऐसे क्षणों पर केवल कलाकार का अधिकार नहीं होता, वे सामान्य जनों को भी निरन्तर प्राप्त होते हैं। यही कारण है कि साहित्य रचा और समझा जाता है। जिस प्रकार, बुद्धि विशिष्टों का सामान्यीकरण करती है, उसी प्रकार कल्पना भी विशिष्ट का इस प्रकार मनश्चित्र बनाती है कि वह मनश्चित्र सारे तत्समान विशिष्टों का प्रतिनिधि हो जाता है। ऐसे मनश्चित्र की प्रातिनिधिकता एक प्रकार का सामान्यीकरण नहीं तो क्या है!!

किन्तु, ये सारी मनोवैज्ञानिक प्रक्रियाएँ हमारे सामान्य जीवन में ही चलती रहती हैं। उन्हीं से हमारी भाव-सम्पदा बनती है। हृदय में, जीवन-मूल्यों की संवेदनात्मक स्थिति उन्हीं के कारण है। संक्षेप में, निमग्नता और तटस्थता के योग से उत्पन्न आत्म-विस्तार हमारे न देखे-जाने पहचाने-जाने सामान्य जीवन का ही अंग है।

यह सही है कि व्यक्तियों के आत्म-वैभव की कोटियाँ होती हैं। कोई आदमी बहुत पढ़ा-लिखा होकर भी जड़ हो सकता है और कोई डिग्रीधारी न होकर अत्यन्त परिष्कृत हो सकता है; कोई विख्यात पण्डित काव्य और कला के प्रति निःसंज्ञ और जड़ हो सकता है, लेकिन कोई बहुत मामूली पढ़ा-लिखा उसके प्रति सहज संवेदनशील हो सकता है। यह आवश्यक नहीं है कि 'महान्' आलोचक संवेदनशील हों। यूनिवर्सिटियों के डॉक्टरों की जड़ता दर्शनीय और प्रदर्शनीय है। ज्ञान के अहंकार में अज्ञान के अन्धकार का कुछ ऐसा शुभ्र रूप हमें उनमें मिलता है, कि लगता है कला और साहित्य की छाती पर बैठे हुए ये टीले हैं।

ऐसे सौन्दर्य-क्षणों, ऐसे मनोवैज्ञानिक क्षणों से वंचित अथवा अल्प-समृद्ध, दरिद्र जो आलोचक है, वह अपने को चाहे जितना बड़ा समझे—साहित्य-क्षेत्र का अनुशासक समझे,—वह, वस्तुतः, साहित्य-विश्लेषण के अयोग्य है, कला-प्रक्रिया के कार्य में अक्षम है, भले ही वह साहित्य का 'शिखर' बनने का स्वाँग रचे, मसीहा बने।

आलोचक के लिए सर्व-प्रथम आवश्यक है अनुभवात्मक जीवन-ज्ञान, जो निरन्तर आत्म-विस्तार से अर्जित होता है। खुद की घेरेबन्दी में रहने वाले कुर्सी तोड़ मसीहाओं के बूते की वह बात नहीं। मतलब यह कि कला की बहुत-सी समस्याएँ, केवल अज्ञान के कारण, पैदा की जाती हैं, जब कि असल में वे होती नहीं, हो नहीं सकतीं।

ऐसे लोगों के जो भी विश्लेषण और निर्णय होते हैं वे कलाकार की रचना-प्रक्रिया को बिना देखे-समझे होते हैं। वह आलोचना, जो रचना-प्रक्रिया को देखे बिना की जाती है, आलोचक के अहंकार से निष्पन्न होती है, भले ही वह अहंकार आध्यात्मिक शब्दावली में प्रकट हो, चाहे कलावादी शब्दावली में, चाहे प्रगतिवादी शब्दावली में।

उपर्युक्त जो मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया बताई गई वह सामान्य जीवन में ही होती है। वह हमारे अन्तर्जीवन को समृद्ध करती है, और उसी समृद्धि का एक भाग बन जाती है। कलाकार के अन्तर्जीवन का भी वह एक भाग होती है।

संवेदनात्मक उद्देश्य इसी भाव-समृद्धि का एक अंग हैं और उसी से उद्गत होते हैं। लेखक के पूरे व्यक्तित्व से

समुद्गत ये संवेदनात्मक उद्देश्य उसके अनुभवों का विशेष रूप से संकलन करते हुए उन्हें अपनी पूर्ति की दिशा में प्रवाहित कर देते हैं। यह पूर्ति, (लेखक-कलाकार के लिए) अभिव्यक्ति में होती है। साधारण जन की आत्मपूर्ति की दिशा भिन्न होती है; उनके लिए, वह, सूक्ष्म दृष्टि या मर्म-दृष्टि के रूप में, अवतरित होती है। और वह उसके संवेदनात्मक जीवन-ज्ञान या जीवनानुभूति का अंग बन जाती है।

संवेदनात्मक उद्देश्यों द्वारा परिचालित और आत्मपूर्ति की विशेष दशा में प्रवाहित यह अनुभव-पुंज, कल्पना द्वारा विस्तृत और मूर्तिमान हो उठता है, किन्तु, साथ ही प्रवाहशील भी। अनुभव-प्रवाह चित्र-प्रवाह में परिणत हो जाता है। संवेदनात्मक उद्देश्यों की प्रक्रिया संवेदना और ज्ञान के योग से कल्पना-चित्रों को विभिन्न विधान करती हुई एक ओर बहा देती है। अथवा यों कहिए कि कल्पना का अपना लॉजिक तैयार हो जाता है। मन कल्पना की इस स्वाभाविक गति में घुलता हुआ और उसमें तन्मय होता हुआ, उसके संवेदनात्मक रस का पान करने लगता है। निःसन्देह यह सौन्दर्य-क्षण है, रस-क्षण है, जिसे कलाकार और सामान्य-जन दोनों प्राप्त करते हैं। जीवनानुभवों के ये सौन्दर्य-क्षण हैं, जिनमें कल्पना-चित्र स्वयं प्रातिनिधिक हो उठते हैं। इसे हम कलात्मक सूक्ष्म दृष्टि का क्षण भी कह सकते हैं अथवा जीवन के सारभूत यथार्थ का क्षण भी कह सकते हैं।

संवेदनात्मक उद्देश्यों का उत्पत्तिस्थल, उनका उद्गम-स्रोत आत्मचरित्रात्मक है। उनके सम्बन्ध-सूत्र कलाकार की मनोरचना से लेकर, उसके व्यक्तिगत इतिहास तक में समाये रहते हैं। यही कारण है कि प्रत्येक साहित्य मूलतः और सारतः आत्मचरित्रात्मक है, भले ही बाहर-बाहर से वह चाहे जितना वस्तुवादी क्यों न दिखाई दे। उसकी यह आत्मचरित्रात्मकता, मुख्यतः अभिव्यक्ति के लिए लाये जाने वाले अनुभवों के संवेदनात्मक महत्त्व-बोध में है। यदि लेखक के पास संवेदनात्मक महत्त्व-बोध नहीं है, या क्षीण है तो उन विशिष्ट अनुभवों की अभिव्यक्ति क्षीण होगी।

संवेदनात्मक उद्देश्यों को देख-परखकर ही यह पहचाना जा सकता है कि लेखक किस प्रकार का प्रभाव उत्पन्न करना चाहता है। एक ओर यदि हम उन्हें देख लेखक के अन्तर्व्यक्तित्व के सम्बन्ध में अनुमान कर सकते हैं तो दूसरी ओर कलात्मक प्रभाव का विश्लेषण भी संवेदनात्मक उद्देश्यों के सन्दर्भ के बिना नहीं हो सकता।

लेखक, जो कि अपनी संवेदनात्मक क्षमता से, साहित्य-सृजन करता है, वह संवेदनात्मक उद्देश्यों के अनुसार, परिचालित होता है। वह अपनी अभिव्यक्ति का पैटर्न भी संवेदनात्मक उद्देश्यों के अनुसार बनाता है। दूसरे शब्दों में, संवेदनात्मक उद्देश्य एक ओर आत्मचरित्रात्मक होते हैं तो दूसरी ओर वे एक विशेष प्रकार का कलात्मक प्रभाव उत्पन्न करने के लिए अभिव्यक्ति का विशेष पैटर्न गूँथते हैं तो तीसरी ओर ये संवेदनात्मक उद्देश्य, अपने धक्के से हृदय में स्थित जीवन-अनुभवों अर्थात् ज्ञानात्मक संवेदन और संवेदनात्मक ज्ञान को जाग्रत और संकलित करके उन्हें अपनी दिशा में प्रवाहित करते हैं। जाग्रत अन्तश्चेतना में अर्थात् इस प्रक्रिया में कल्पना उत्तेजित होकर संवेदनात्मक उद्देश्यों के अनुसार अनुभवों के साकार चित्र प्रस्तुत करती जाती है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि संवेदनात्मक उद्देश्यों का कार्य प्रारम्भ से लेकर अन्त तक अन्तर्व्यक्तित्व की विशेषताओं और उसकी हलचलों से लेकर अभिव्यक्ति के अन्तिम पैटर्न तक होता है। ये संवेदनात्मक उद्देश्य अन्तर्व्यक्तित्व और आभ्यन्तरीकृत जगत् का प्रतिनिधित्व करते हुए जाग्रत और संकलित अनुभवों को मनस्पटल पर एक के बाद एक मूर्तिमान करते हुए आगे बढ़ चलता है।

संवेदनात्मक उद्देश्यों को देखकर लेखक के अन्तर्व्यक्तित्व रचना के अन्तर्गत जीवन-तत्त्वों को और उनकी अभिव्यक्ति को देखा जा सकता है। प्रयोगवादी कविता के संवेदनात्मक उद्देश्यों को न समझने के कारण ही, उसके सम्बन्ध में बहुत-सी भ्रान्तियाँ फैलाई गईं। उसे या तो राजनीतिक रूप से प्रतिक्रियावाद कहा गया या भारतीय संस्कृति के सन्देश उसकी आत्मा के प्रतिकूल। होना तो यह चाहिए था कि संवेदनात्मक उद्देश्यों को समझकर, उन संवेदनात्मक उद्देश्यों को जाग्रत करने वाली जीवन-भूमि का विश्लेषण करते हुए, उन संवेदनात्मक उद्देश्यों की सहज मानवीयता—उन रचनाओं की सहज मानवीयता को हृदयंगम किया जाता। लेकिन, इस प्रकार की कविताओं को एकदम असुन्दर, प्रतिक्रियावादी विद्रूप या निषेधात्मक कहकर टरका दिया गया। आलोचकों का उद्देश्य इस काव्य-प्रवृत्ति को समझना नहीं था वरन् उससे संघर्ष करके उसे नष्ट कर देना था।

लगभग ऐसे ही उद्देश्य से परिचालित होकर पण्डित रामचन्द्र शुक्ल ने छायावाद का विरोध किया। उन्होंने जब छायावाद से समझौता भी किया तो उसे 'अभिव्यक्ति की लाक्षणिक प्रणाली' कहकर छुट्टी पाई। लेकिन, यह नहीं देखा कि आखिर लेखक इस प्रकार की प्रणाली को क्यों अपनाना चाहता है, या यों कहिए कि इस प्रकार की अभिव्यक्ति प्रणाली आखिर कवियों के लिए क्यों स्वाभाविक हो उठी।

कहने का तात्पर्य यह कि अभिव्यक्ति की प्रणाली बदलते ही आलोचकों की नाड़ी छूटने लगती है। मुझे इस बात का गहरा सन्देह है कि इसका कारण यांत्रिक बुद्धि है। अपनी-अपनी थियरीज़ और सिद्धान्तों के कटघरे में किसी नई प्रवृत्ति को न फँसते देखकर उस नई प्रवृत्ति को ही निन्दित किया गया, न कि उन सिद्धान्तों को बदला अथवा उन सिद्धान्तों के सम्बन्ध में अब तक उनकी अपनी जो समझ थी, उसमें परिवर्तन किया। उन्हें अपने-अपने बौद्धिक-मानसिक ढाँचों की ज़्यादा फ़िक्र थी, किसी नई प्रवृत्ति के जीवन्त तथ्यों की नहीं।

संवेदनात्मक उद्देश्य, विद्युत् की वह धारा है जो अन्तर-व्यक्तित्व से प्रसूत होकर जीवन-विधान करती है, कला-विधान करती है, अभिव्यक्ति-विधान करती है। आत्म-चरित्रात्मक और सृजनशील ये संवेदनात्मक उद्देश्य हृदय में स्थित जीवन्त अनुभवों को संकलित कर उन्हें कल्पना के सहयोग से उद्दीप्त और मूर्तिमान करते हुए एक ओर प्रवाहित कर देते हैं। यह कला का प्रथम क्षण है, या कहिए सौन्दर्य-प्रतीति का क्षण है। यह क्षण सामान्य जन को भी प्राप्त होता रहता है।

किन्तु, कला का द्वितीय क्षण तब उपस्थित होता है जब लेखक में शब्द-संवेदनाएँ जाग्रत होकर, वह विषय-तत्त्वों को व्यक्त करने लगता है। यह क्षण दो कारणों से महत्त्वपूर्ण है। एक तो इसलिए कि अब शब्द-संवेदनाएँ और भाव-संवेदनाएँ दोनों एक-दूसरे से सन्तुलित होने लगती हैं, बल्कि इसलिए भी कि लेखक का मन दर्शक और भोक्ता—इन दो के बीच में केवल विभाजित ही नहीं होता वरन् अब दर्शक केवल निष्क्रिय नहीं रहता बल्कि सक्रिय हो जाता है और साथ ही वह विषय-तत्त्व के मनोरूपों को व्यक्त करने का प्रयास करने लगता है। संक्षेप में, अब यह दर्शक एक क्रियावान शक्ति बन जाता है। किन्तु, उसकी क्रिया मनोरूपों के सम्बन्ध में होने से एक विशेष परिस्थिति निर्मित हो जाती है। वह परिस्थिति इस प्रकार है।

न केवल अन्तर का द्विधा विभाजन होता है वरन् यह कि इस दर्शक मन को शब्दाभिव्यक्ति में देर लगती है, फलतः उसे संवेदनात्मक उद्देश्यों के अनुसार प्रवाहित होने वाले मनोरूपों की गति को थाम लेना या मन्द करना पड़ता है, उसे संयमित करना पड़ता है। इस बीच शब्द-संवेदनाएँ जाग्रत होकर अपना कार्य मनोनुकूल पूरा कर चुकती हैं कि इस बीच कभी-कभी सम्भवतः संवेदनात्मक उद्देश्यों से परिचालित मनोरूपों की गति ही लुप्त हो जाती है और रचित शब्दावली का भावार्थ भी पूरा नहीं हो पाता।

मेरा मतलब तटस्थता और तन्मयता से है। यदि दर्शक मनोरूपों की गतियों से इतना निर्लिप्त है कि वह शब्द-संवेदनाओं में खो जाता है और मनोरूपों की गति जड़ हो जाती है तो ऐसी निर्लिप्तता भी उसकी काम की नहीं होती, और यदि वह उन मनोरूपों की गतियों में पूर्णतः विलीन हो जाता है तो शब्द-संवेदनाओं के लिए अवकाश की हीनता के फलस्वरूप अभिव्यक्ति निर्बल अथवा दुरूह हो जाती है। अतएव उसे मनोरूपों की गतियों को प्रवाहित करने वाले संवेदनात्मक उद्देश्यों से एकाकार होकर, साथ ही उन मनोरूपों का मज़ा लेते हुए उनकी गतियों को आत्मसात करते हुए चलना पड़ता है। दूसरे शब्दों में उसे अनवरत रूप से एकीभूत स्थिति और द्विधा रूप स्थिति कायम रखनी पड़ती है।

किन्तु, केवल इतना ही नहीं होता। शब्द-संवेदनाओं और भाव संवेदनाओं की परस्पर तुलना से अंगीकृत अभिव्यक्ति के फलस्वरूप रचना का जो अंश तैयार हो जाता है वह स्वयं एक फोर्स, एक शक्ति बन जाता है और यदि अनुभवात्मक संवेदनाएँ (विषयभूत मनोधाराएँ) क्षणमात्र लुप्त भी हुईं, तब भी शब्दात्मक वह रचना-खण्ड स्वयं उसे अगला मार्ग सुझा देता है।

शब्द-संवेदनाओं को प्राप्त करते हुए लेखक जाने-अनजाने अपनी मूल भाव-सम्पत्ति और मनोधारा में भी परिवर्तन करता रहता है। शब्द-संवेदनाएँ नवीन associations को जाग्रत कर देती हैं। फलतः वह मूल मनोधारा यदि इस प्रकार से इन associations को प्राप्त करके समृद्ध हो जाती है तो दूसरी ओर उसका—उस मनोधारा का स्वयं का मूल रूप स्वरूप बहुत-कुछ बदलता जाता है। यह महत्त्व की बात है। प्रारम्भिक स्फूर्ति ने जो तत्त्व-विधान और रूप-विन्यास किया था वह परिवर्तित होता रहता है।

बुद्धि का कार्य यहीं उपस्थित होता है। उसे कार्य-निर्वाह करना पड़ता है। मूल मनोधारा ने अपने आवेग में रूपमय तत्त्वों को लाकर खड़ा कर दिया, कल्पना को उद्दीप्त कर दिया और संवेदनात्मक उद्देश्यों की पूर्ति की दिशा में उसे प्रवाहित कर दिया। किन्तु शब्द-साधना के समय नवीन भावात्मक अनुषंग नवीन अनुभव उपस्थित होते हैं। वे मूल्यवान् होने पर उन्हें जाने-अनजाने आत्मसात कर दिया जाता है। शब्द-संवेदनाएँ लगातार कार्य करती रहती हैं। उनकी चोट होती रहती है। मूल मनोधारा में बहुत-कुछ परिवर्तन अर्थात् संशोधन होता जाता है। यह संशोधन किस प्रकार का होता है।

असल में, शब्दाभिव्यक्ति के समय लेखक मनोधारा के अन्तर में और भी अधिक प्रवेश करता है। उसके लिए वह अधिकाधिक तत्त्व-साक्षात्कार का और आत्म-साक्षात्कार का काल है। एक प्रकार से वह उसके आत्म-निर्माण का भी काल है। शब्दाभिव्यक्ति तो केवल उसका एक माध्यम है। संवेदनात्मक उद्देश्यों की तीव्रता पर यह निर्भर करता है कि कहाँ तक वह आगे बढ़ेगा। संवेदनात्मक उद्देश्यों की तीव्रता के अभाव में—अर्थात् प्रेरणा के अभाव में उसकी रचना बहुत आगे बढ़ नहीं पाती। वह खण्डित हो जाती है अथवा उसे जैसे-तैसे करके वह निबटा देता है, उसका तत्त्व—साक्षात्कार—आत्म-साक्षात्कार, छिछला और पतला, विरल और तुच्छ होता है।

किन्तु, लेखक के पास यदि उतनी प्राण-शक्ति है तो निःसन्देह अब तक निर्मित शब्दात्मक रचना की सहायता से अपना अगला कदम भी देख लेता है। जीवन-अनुभवों में डूबी हुई उसकी बुद्धि रचना के संवेदनात्मक उद्देश्य से एकाकार होकर आगे का पथ प्रशस्त करती है। फलतः काव्य-निर्वाह होता चलता है। यह बुद्धि, संवेदनात्मक उद्देश्य के अनुसार, शब्द-योजना और अभिव्यक्ति-निर्माण में एक सम्पादक का, संशोधक का कार्य करती है तो दूसरी ओर वह संवेदनात्मक ज्ञान और ज्ञानात्मक संवेदनाओं को लक्ष्य में रखकर उनसे अनुप्राणित होकर आगे बढ़ती है। यह बुद्धि जीवन-तत्त्व में, जीवन-यथार्थ में प्रवेश करने वाली बुद्धि है। वह एक साथ कई कार्य करती है। भाव-यात्रा में ठीक दिशा को वह सूचित करती रहती है, संवेदनात्मक उद्देश्य से प्रेरित होने के कारण जीवन-अनुभवों में सूक्ष्म दृष्टिफल को वह सामान्यीकरणों का रूप देती चलती है। तीसरी ओर अभिव्यक्ति-निर्माण में वह सम्पादक-संशोधक का काम भी करती है, अतएव वह रूप-रचना में भी सहायक होती रहती है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि द्विधा-विभाजित मन की प्रक्रिया में तटस्थता नामक जो एक आत्म-स्थिति पैदा हो जाती है, वह तटस्थता नामक आत्मस्थिति एक क्रियावान शक्ति है, और क्रिया में गतिमान होने के लिए ही उपस्थित रहती है। ●

काव्य-भाषा और शैली-विज्ञान

रवीन्द्रनाथ श्रीवास्तव

आज का कवि, कविता को भाषा की ही एक विधा मानने लगा है और आलोचक भी यह स्वीकार करने लगा है कि कविता, भाषा का ही एक विशेष रूप है। दूसरी ओर यह भी स्पष्ट करने की उसमें कोशिश की गई है कि साहित्यिक जगत्, बाह्य-जगत् की प्रतिच्छवि न होते हुए भी उससे असम्पृक्त नहीं और क्योंकि वह ठोस एवं यथार्थ है अतः उसका भी वैज्ञानिक रीति से विश्लेषण संभव है। साहित्यिक एवं बाह्य-जगत् के अन्तर को समझना वस्तुतः वस्तुओं की 'आन्तरिक अन्विति' और उसके 'कार्य-फलन' को समझना है जिसे हम अभिव्यक्ति शैली के माध्यम से जान सकते हैं, कम-से-कम कविता में उसका पता लगाने का और कोई साधन नहीं।

"कविता, भाषा का ही एक विशेष रूप है"—इस कथन को दो सन्दर्भों में ग्रहण किया जा सकता है। एक तो यह कि कविता की भाषा के अतिरिक्त भी अपनी सत्ता है, वह 'स्वनिष्ठ' (ऑटोनोमस) है। पर साहित्य अगर शाब्दिक कला (वर्बलआर्ट) है, तो कविता को समझने का माध्यम भी भाषा ही है। उस सन्दर्भ में यह कहा जा सकता है कि कविता की भाषा का अध्ययन अपने में साध्य नहीं। वह साधन रूप ही है जो कविता को समझने और ग्रहण करने के लिए एक समर्थ माध्यम प्रदान करता है।

लेकिन इस 'माध्यम' को कला के अन्य क्षेत्रों में प्रयुक्त होने वाले माध्यम से भिन्न समझना चाहिए। उदाहरण के लिए चित्र-कला में प्रयुक्त होने वाले 'रंग' अथवा मूर्तिकला में माध्यम के रूप में ग्रहण किये जाने वाले 'पत्थर' की प्रकृति से भिन्न और कहीं अधिक विशिष्ट प्रकृति भाषा की है जो कविता में साधन रूप में प्रयुक्त होने के बावजूद भी 'साध्य' को बहुत दूर तक नियंत्रित-संचालित करती है। रंग और पत्थर तभी कलात्मक स्वरूप ग्रहण करते हैं जब वे कलाकृति में संश्लिष्ट हैं। कलाकृति से अलग वे सामान्य स्थूल उपादान मात्र है। अपने में न तो वे संस्कृति के अंग हैं और न परम्परा के वाहक। अतः रंगों की अपनी प्रकृति और पत्थरों की अपनी बनावट के वैज्ञानिक विश्लेषण करने वाले रसायन-शास्त्री या भूगर्भ-शास्त्री जब किसी कलाकृति का विश्लेषण करने चलते हैं तब वे भी रंगों और पत्थरों की बनावट और विशिष्टता ही बता पाते हैं, उनकी दृष्टि स्थूल-उपादान से आगे बढ़ ही नहीं पाती।

पर कविता के माध्यम के रूप में जिस भाषा को अपनाया जाता है, उसकी स्थिति चित्रकला और मूर्तिकला में प्रयुक्त होने वाले रंगों और पत्थरों की स्थिति से भिन्न है। पहला तथ्य तो यह है कि कलाकृति से हटकर रंग और पत्थर, प्रवृत्त्यात्मक (डाइरेक्टेड) नहीं होते, वे अपनी ओर से कलाकार को 'निर्देश' नहीं देते। वे अपने प्रकृत-रूप में स्थिर एवं निष्क्रिय होते हैं। गत्यात्मक और सक्रिय बनाने का कार्य एकमात्र कलाकार करता है, अतः इन कलाकृतियों में जिस लय एवं संगीतात्मकता का हम अनुभव करते हैं, जिस गत्यात्मक और सक्रिय स्पन्दन की हमें अनुभूति होती है वह कलाकृति की आन्तरिक संरचना का परिणाम है। ठीक इसके विपरीत भाषा, यद्यपि कविता में माध्यम के रूप में ग्रहण की जाती है पर उसकी प्रकृति प्रवृत्त्यात्मक होती है, वह कवि को 'निर्देश' भी देती है। वह प्रकृत-रूप में स्थिर और निष्क्रिय न होकर गत्यात्मक और सक्रिय होती है। भाषा स्वयं में जीवन्त होने के कारण अपना विशिष्ट दबाव डालती है। कवि जब भाषा को माध्यम के रूप में अपनाता है तब उसे इस प्रवृत्त्यात्मक दबाव के साथ भाषा को स्वीकार करना पड़ता है।

दूसरा तथ्य यह है कि भाषा स्वयं संस्कृति का एक अंग और परम्परा का वाहक माध्यम है। अगर किसी देश का साहित्य उस देश की संस्कृति एवं परम्परा के साथ जुड़ा है तो उस साहित्य के माध्यम के रूप में प्रयुक्त भाषा का भी गहरा सम्बन्ध संस्कृति एवं परम्परा के साथ स्वयंसिद्ध है। भाषा संस्कृति का एक विशिष्ट अंग है। वह संस्कृति का स्थूल उपादान न होकर उसकी सक्रिय शक्ति है। भाषा और संस्कृति में एक अटूट सम्बन्ध है—इससे इनकार नहीं किया जा सकता, पर इसके आन्तरिक सम्बन्ध को स्थूल रूप में ग्रहण करने पर अनेक भ्रान्तियाँ फैलने की भी सम्भावना हो सकती है। उदाहरण के लिए, यह कथन सही है कि किसी भाषा को उसके बोलने वालों की संस्कृति से अलग कर अथवा किसी जातीय संस्कृति को उसकी भाषा के सन्दर्भ से काट कर सही ढंग से नहीं समझा जा सकता। पर इसके साथ यह कहना कि विभिन्न संस्कृतियाँ, विभिन्न भाषाओं की माँग करती हैं अथवा जितनी विभिन्न भाषाएँ होंगी उतनी ही भिन्न संस्कृति होगी—तर्कसंगत नहीं। भारतवर्ष स्वयं इसका उदाहरण है। यहाँ नितान्त असंबद्ध भाषाएँ, एक संस्कृति की पुष्टि करती हैं और यह भी देखा जा सकता है कि एक ही परिवार की दो सम्बन्धित भाषाएँ नितान्त भिन्न दो संस्कृतियों का प्रतिनिधित्व करती हैं। यद्यपि इंग्लैण्ड, अमरीका और आस्ट्रेलिया में एक ही भाषा (अंग्रेज़ी) बोली जाती है पर इसमें सन्देह हो सकता है कि इन देशों की संस्कृति एक नहीं।

एक अन्य आधार पर भी भाषा अन्य कला-क्षेत्रों के उपादानों से अपने को अलग कर लेती है। कलाकृति से अलग रहकर रंग और पत्थर स्थूल एवं अव्यवस्थित रूप में रहते हैं और किसी कलाकृति में उपादान रूप में प्रयुक्त होते समय भी 'कलात्मकता' रंगों और पत्थरों के आयाम में बँधी होकर भी उनके अपने गुणों से मुक्त रहती है। लेकिन कविता के माध्यम के रूप में जिस भाषा को कवि अपनाता है वह न तो स्थूल है और न अव्यवस्थित ही। भाषा अभिव्यक्ति के ध्वनि-स्तर पर भी विशेष व्यवस्था की माँग करती है और प्रतीक-स्तर पर भी विशेष व्यवस्था की अपेक्षा रखती है। अपनी इसी व्यवस्था के आधार पर एक भाषा अन्य भाषाओं से भिन्न होती है। दूसरी ओर 'काव्यात्मकता' न केवल भाषा के आयाम में बँधी होती है वरन् बहुत दूर तक भाषा की अपनी संरचना और अपने गुणों द्वारा नियंत्रित भी होती है। काव्यात्मकता अपने माध्यम से मुक्त होकर सिद्ध रह ही नहीं सकती क्योंकि काव्यात्मक संरचना पूरी तरह से भाषा में अन्तर्मुक्त होती है।

कविता में भाषा को 'काव्यात्मकता' के हेतु माध्यम के रूप में कवि अपनाता है तो 'काव्यात्मकता' अन्त तक अपने को अपने माध्यम से मुक्त नहीं कर पाती। कवि कविता की रचना करता है, वह अपने 'संसार' का सृजन करता है। पर यहाँ दो स्थितियाँ संभव हैं। गीतात्मक (लिरिकल) कविताओं में जिस 'संसार' का कवि सृजन करता है वह संभव है अनुभूति के किसी विशेष क्षण तक ही सीमित हो जिसको व्यावहारिक दृष्टि से 'स्पेस' की संज्ञा नहीं दी जा सकती। और अगर सिद्धान्त के रूप में उसे 'स्पेस' मान भी लें तो वह ऐसे नुकीले बिन्दु पर केन्द्रित होती है जिसके आयाम को निश्चित नहीं किया जा सकता। एक दूसरी भी स्थिति हो सकती है जहाँ आयाम और वस्तुएँ 'स्पेस' का निर्माण करती हैं जहाँ कवि अपने 'संसार' का सृजन करता है—जैसे महाकाव्यों, गीति-नाट्यों आदि में।

दोनों ही स्थितियों में जहाँ अनुभूति नुकीले बिन्दु पर केन्द्रित होकर आयाम-मुक्त होती है और जहाँ अनुभवों के अपने नये संसार का सृजन होता है, भाषा का सम्बन्ध अनुभूति और अनुभवों के साथ बना रहता है। क्योंकि व्यक्ति की विशिष्ट-से-विशिष्ट अनुभूति भाषा के रंगों से मुक्त नहीं होती और दूसरी ओर भाषा, अनुभवों का रीति-पक्ष है। भाषा के माध्यम से ही हम अपने अनुभवों का साधारणीकरण करते हैं और इस साधारणीकरण के माध्यम से ही उसे दूसरे तक सम्प्रेषण करते हैं। अतः सामान्यीकृत अनुभवों से अलग हटे अनुभवों को भी हम जान-पहचान पाते हैं तो भाषा के ही माध्यम से। पर यह अवश्य है कि तब भाषा का स्वरूप सामान्य स्वरूप न होकर विशिष्ट हो जाता है। सामान्य से अलग हटकर जिस विशिष्ट भाषा का प्रयोग कवि करता है, वही भाषा की काव्यात्मक शैली कही जाती है। अनुभव के कथ्य-पक्ष और भाषा के रूप में उसके रीति-पक्ष के साथ जो लचीला पर अटूट सम्बन्ध है यह उसी का परिणाम है कि अनुभव के कथ्य-पक्ष की विशिष्टता उसके रीति-पक्ष में भी विशिष्टता लाने को बाध्य करती है। अनुभव के कथ्य पक्ष और उसके रीति-पक्ष का यह सम्बन्ध कलाकृति के माध्यम के

रूप में केवल भाषा में हा देखा जा सकता है। अन्य माध्यमों में उनके सम्बन्धों के बीच न तो ऐसा अटूट सम्बन्ध ही देखा जा सकता है और न ऐसा लचीला संयोग ही।

सच तो यह कि कथ्य और रीति-पक्ष के बीच पाये जाने वाले अटूट और लचीले सम्बन्ध ही कविता के आलोचकों से भाषा-वैज्ञानिक ज्ञान की माँग करते हैं। जब 'काव्यात्मकता' अन्त तक अपने को अपने माध्यम (भाषा) से मुक्त नहीं कर सकती और जब भाषा की अपनी व्यवस्था को समझने के लिए एक 'विज्ञान' है, तब यह तर्क-संगत है कि उस विज्ञान का प्रयोग काव्यात्मकता का पता लगाने और उसको समझने के लिए भी किया जाये।

●

इस प्रकार कविता की साहित्यिक आलोचना के साथ भाषा-विज्ञान का सम्बन्ध है। भाषा के माध्यम से ही 'काव्यात्मकता' का पता लगाया जा सकता है और भाषा के अध्ययन का प्रत्येक क्षेत्र भाषा-विज्ञान के क्षेत्र के अन्तर्गत आता है। पर यहाँ यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि साहित्यिक आलोचना और भाषाविज्ञान एक-दूसरे के क्षेत्र को काटते भले ही हों और वे एक-दूसरे के लिए पूरक ही क्यों न हों, वे लक्ष्य-भेद के कारण अपने अलग क्षेत्र को निर्दिष्ट करते हैं। कविता को समझने और काव्यात्मकता का पता लगाने में भाषा-विज्ञान सहायक हो सकता है पर 'कविता' या 'साहित्य' अपनी संरचना को लेकर स्वतंत्र (ऑटोनोमस) है।

आलोचना और भाषा-विज्ञान के सम्बन्ध को लेकर दो अतिवादी दृष्टिकोण देखने को मिलते हैं। पहले मत के अनुसार कविता की आलोचना वस्तुतः वहाँ से शुरू होती है जहाँ भाषा-वैज्ञानिक अध्ययन अपनी सीमा-रेखा खींचता है। इस मत के मानने वालों में कविता की भाषा-वैज्ञानिक समीक्षा की उपयोगिता के अनुपात में विभिन्नता मिल सकती है—पर विचार-रूप में मूलतः वे इस बात को स्वीकार करते हैं कि 'काव्यात्मकता' का पता मात्र भाषा-वैज्ञानिक पद्धति से नहीं लगाया जा सकता। उदाहरण के लिए **रेने वेलेक**[1] के अनुसार शैली-विज्ञान कविता की संरचना को समझने में सहायक हो सकता है, उसकी संघटना के विश्लेषण में वह मदद दे सकता है, पर वह आलोचना का एक अंग है, पूरी साहित्यिक आलोचना नहीं। शैली-विज्ञान कविता की उस संरचना, संघटना, 'नॉर्म' और कार्यफलन का विश्लेषण कर सकता है जो 'मूल्यों' को अपने भीतर बाँधे रहता है, पर कविता की आलोचना का मुख्य धर्म मूल्यों का अन्वेषण है।

अपने इसी समीक्षात्मक लेख में एक दूसरे स्थल पर उनका कहना है कि भाषा-विज्ञान कविता के क्षेत्र में 'ध्वनियों' एवं 'छन्दों' के अध्ययन में ही मुख्य रूप से सहायक है और कविता की वास्तविक समीक्षा उस बिन्दु से प्रारम्भ होती है जब भाषा-विज्ञान का यह अध्ययन समाप्त हो जाता है अर्थात् एक सीमा-रेखा तक पचहुँने के पश्चात् कविता की आलोचना, भाषाविज्ञान की पहुँच के बाहर चली जाती है।

यह ठीक है कि पहले भाषा-वैज्ञानिकों ने कविता के ध्वनि-पक्ष एवं छन्दों का ही विश्लेषण किया और तत्सम्बन्धी अध्ययन को वैज्ञानिकता प्रदान की। पर अन्यत्र यह दिखाया जा जा चुका है कि भाषा-वैज्ञानिक अध्ययन ने कविता की केवल ध्वनियों का ही विश्लेषण भी किया है। वे ध्वनियों के माध्यम से कविता के 'अन्तर्टोन' का भी संकेत देते हैं, साथ में अर्थ के स्तर पर 'गौण' अर्थ का भी पता लगाते हैं जो 'काव्यात्मकता' के सन्दर्भ में 'प्रमुख' अर्थ बन जाता है।

रेने वेलेक स्वयं यह स्वीकार करते हैं कि शैली-विज्ञान, कविता की उस सरंचना, संघटना, 'नॉर्म' और कार्यफलन का विश्लेषण करने में सक्षम है जो 'मूल्यों' को अपने भीतर बाँधे रहता है। पर प्रश्न उठाया जा सकता है कि क्या मूल्यों की अपनी सत्ता कविता में कविता की संरचना, संघटना, 'नॉर्म' या कार्यफलन के बाहर संभव है? क्या मूल्यों का पता इनकी जानकारी के बिना पाया जा सकता है? अगर मूल्यों का सम्बन्ध कविता से है और उसकी परिणति गुणात्मक प्रकृति से सम्बद्ध है तब इन मूल्यों की चर्चा कविता की संघटना और कार्यफलन की जानकारी के अभाव में याद्दच्छिक ही होगी। ऐसी स्थिति में आलोचना का स्वरूप व्यवस्थित हो ही नहीं सकता। फिर पहले यह संकेत किया जा चुका है कि 'मूल्य' अथवा 'गुण' वस्तु की अपनी संरचना और कार्यफलन का ही परिणाम हो सकता है।

यह सच है कि भाषा-विज्ञान, विज्ञान की पद्धति को अपनाने के कारण विशेष वस्तु की संरचना, संघटना और कार्यफलन तक ही अपने अध्ययन को सीमित रखता है, और इसके सन्दर्भ में वस्तु की सभी गुणात्मक सम्भावनाओं की ओर संकेत देता है पर 'गुणों' और 'मूल्यों' के यादृच्छिक एवं

आत्यन्तिक रूप को अपने सीमा-क्षेत्र से बाहर रखता है। अतः कविता के विश्लेषण के लिए जिस पद्धति को वह स्वीकार करता है, वह उसकी कार्य-प्रणाली के अनुरूप, 'मूल्य निरपेक्ष' ही होता है।

रूसी विद्वान् **विनोकुर**[२] का यह मत है कि कविता की भाषा अपनी विशेष संरचना के फलस्वरूप भाषा-विज्ञान की परिधि से बाहर निकल जाती है और वह जिन समस्याओं को हमारे समक्ष लाती है भाषा-विज्ञान के माध्यम से उसका समाधान नहीं ढूंढ़ा जा सकता। विनोकुर के मतानुसार जिन व्याकरणिक नियमों एवं व्यवस्था के द्वारा भाषा का बोल-चाल का रूप बँधा होता है उससे कहीं भिन्न व्यवस्था कविता की भाषा की होती है। कविता में प्रयुक्त होने वाली भाषा का कार्यफलन, सामान्य भाषा के कार्यफलन से भिन्न होता है और वह कला के अन्य क्षेत्रों में प्रयुक्त माध्यम के कार्य-फलन के समरूप होता है। विनोकुर की इस मान्यता की पुष्टि कोझिनोव ने अपने लेख "क्या संघटनात्मक काव्य-शास्त्र संभव है?" में की है। उनके अनुसार कविता, भाषा से भिन्न 'संघटना' की माँग करती है।

विनोकुर अथवा कोझिनोव[3] के कथन पर दो आपत्तियाँ उठाई जा सकती हैं। एक, कविता के माध्यम के रूप में प्रयुक्त 'भाषा' कला के अन्य क्षेत्रों में प्रयुक्त माध्यम के अनुरूप होती है। इस विषय पर प्रारम्भ में ही दिखलाया जा चुका है कि ऐसी मान्यता भ्रामक है। दूसरी आपत्ति यह उठाई जा सकती है कि भाषा-विज्ञान का क्षेत्र केवल भाषा के बोल-चाल के रूप का ही परीक्षण नहीं है। भाषा का प्रत्येक रूप, उसकी प्रत्येक विधा उसके अध्ययन-क्षेत्र के भीतर आती है। अगर 'भाषा' और उसकी 'बोली' दोनों का अध्ययन भाषा-विज्ञान कर सकता है, अगर व्यक्ति की 'स्पीच' और समाज की 'भाषा' को वह अपने भीतर समेट सकता है और अगर बोलचाल की घरेलू भाषा और तकनीकी विषयों पर लिखे गये शोध-प्रबन्धों की भाषा दोनों को समान भाव से अपने अध्ययन का विषय बना सकता है, तब यह सवाल उठाया जा सकता है कि भाषा के साहित्यिक रूप या कविता की भाषा का ही अध्ययन उसके क्षेत्र के बाहर कैसे है?

इससे किसे इनकार हो सकता है कि कविता में प्रयुक्त भाषा की व्यवस्था एवं कार्यफलन सामान्य बोलचाल की भाषा की व्यवस्था एवं कार्यफलन से भिन्न होता है। पर सवाल व्यवस्था एवं कार्यफलन की विभिन्नता का नहीं है। सवाल तो इसका है कि भाषा-विज्ञान कविता में प्रयुक्त भाषा की व्यवस्था एवं कार्यफलन का विश्लेषण कर सकता है या नहीं। जिस विश्लेषणात्मक पद्धति को भाषा-वैज्ञानिक अप-नाता है, उस पद्धति का प्रसार काव्यात्मक भाषा के क्षेत्र तक संभव है या नहीं। चोम्स्की के व्याकरणिक स्तर-भेद की धारणा की चर्चा करते हुए अन्यत्र यह दिखलाया जा चुका है कि भाषा-वैज्ञानिक विश्लेषणात्मक पद्धति का प्रसार काव्या-त्मक भाषा तक करना संभव है। यहाँ इतना और जोड़ देना आवश्यक है कि जब यह कहा जाता है कि कविता भाषा के सामान्य प्रयोग से अलग हटी भाषा का ही विशेष रूप है तो उसका तात्पर्य यह नहीं कि सामान्य से अलग हटे काव्यात्मक भाषा-रूप किसी भी व्यवस्था के नियंत्रण से बाहर हैं अर्थात् कवि को पूरी छूट है कि वह भाषा का मनमाना प्रयोग करे। काव्यात्मक भाषा, भाषा के 'नॉर्म' की व्यवस्था की तुलना में अधिक लचीली (फ़्लेक्सिबल) और व्यापक होती है, पर उसके लचीलेपन की भी एक सीमा होती है, उसकी व्यवस्था की व्यापकता की भी एक परिधि होती है, जिसके बाहर जाने पर काव्य-भाषा के नियमों के अतिक्रमण के रूप में काव्य-प्रयोग पाठकों के मन में खटक जाता है। कहने का तात्पर्य यह है कि काव्य-भाषा की भी अपनी व्यवस्था होती है, उसके अपने 'कार्यफलन' होते हैं और वे भाषा के विशेष रूप की विशेष व्यवस्था एवं कार्यफलन हैं। अतः उसका विश्लेषण भाषा-विज्ञान के सीमा-क्षेम के भीतर ही है। कहने के लिए तो यह भी कहा जा सकता है कि काव्यात्मक भाषा की इस विशेष व्यवस्था एवं कार्यफलन की विशिष्टता का पता भी हम तभी पाते हैं जब हम इसे सामान्य भाषा की व्यवस्था के 'नॉर्म' एवं कार्यफलन के सन्दर्भ में रखकर उसका विश्लेषण करते हैं।

कविता और भाषा-विज्ञान के सम्बन्धों को लेकर दूसरे अतिवादी दृष्टिकोण को अपनाने वाले विद्वानों के अनुसार कविता की आलोचना और व्याख्या भाषा-वैज्ञानिक दृष्टि से करनी होगी तब कविता को साहित्य का अंग न मानकर केवल भाषा का ही एक रूप मानना होगा। कविता की भाषा इस दृष्टि-कोण के अनुसार स्वयं अपने में साध्य होती है। इस विचार को मानने वालों में **रेन्जिन**[४], **तोपोरोव**[५], **सोलसपोर्टा**[६] आदि विद्वान् हैं। उदाहरण के लिए सोल सपोर्टा कविता की

प्रकृति और भाषा के अन्य रूपों—यथा, गद्य अथवा सामान्य बोलचाल की भाषा के सम्बन्धों की चर्चा उठाते हुए पहले ही दो मोटे विभाग कर लेना चाहते हैं। पहला वर्ग उन भाषा-सम्बन्धी कला-रूपों का है जो भाषा से सम्बद्ध होने के कारण भाषा-विज्ञान के क्षेत्र के भीतर आते हैं। दूसरा वर्ग उन कला-रूपों का है जो भाषा से सम्बद्ध न होने के कारण उसके बाहर हैं, यथा, संगीत, चित्रकला आदि, जिसे वह 'कला' की संज्ञा देते हैं। इस विभाजन के बाद कविता के भाषा और कला के बीच के सम्बन्धों की चर्चा उठाते हुए तीन स्थितियों की ओर वे संकेत देते हैं—

१. कविता भाषा है अर्थात् कविता का क्षेत्र पूर्णतः भाषा-क्षेत्र की अपनी सीमा के भीतर है, अतः वह भाषा का उपांग है। इस तरह भाषा-विज्ञान की परिधि के भीतर ही कविता की आलोचना सम्भव है।
२. कविता भाषा नहीं है। वह कला का उपांग है, अतः वह भाषा-विज्ञान के क्षेत्र से बाहर है।
३. कविता भाषा और कला दोनों ही क्षेत्रों को काटने वाली विधा है, अर्थात् उसका कुछ अंश कला के अन्तर्गत और कुछ भाषा की सीमा के भीतर आता है और इस प्रकार वह एक साथ दो विभिन्न क्षेत्रों का सदस्य है।

इन तीनों सम्बन्धों के बीच भाषा-वैज्ञानिक आलोचक के रूप में सपोर्टा पहले सम्बन्ध को प्राथमिकता देना चाहते हैं क्योंकि उनके अनुसार अन्य दोनों स्थितियों में आलोचना को अपने भाषा-वैज्ञानिक दायित्व एवं कार्यक्षेत्र से बाहर जाना पड़ेगा। अगर आलोचक भाषा-वैज्ञानिक है तो उसे कविता को भाषा का उपांग मानना ही होगा। उनकी यह विवशता भाषा-वैज्ञानिक विश्लेषण से निकले निष्कर्ष और साहित्यिक अनुभूति के फलस्वरूप प्राप्त सहजोपलब्ध अर्थ के बीच दिखाई पड़ने वाली असंगतियाँ हैं। अगर भाषा-वैज्ञानिक निष्कर्ष सहजोपलब्ध अर्थ के विपरीत हैं तब हम निष्कर्षों की वैज्ञानिकता पर ही शंका उठाने लगेंगे। उनके अनुसार वैज्ञानिक विश्लेषण से प्राप्त निष्कर्ष जब हमारे अन्तर्ज्ञान के विपरीत जाता दिखाई पड़ता है तो प्रायः हम अपने विश्लेषण को ही सुधारने या बदलने की ओर प्रवृत्त होते हैं। शायद ही कभी हम अन्तर्ज्ञान की सच्चाई पर शंका उठाते हों। अतः भाषा-वैज्ञानिक आलोचक के लिए यही उचित है कि वह कविता के भाषा और कला के बीच के सम्बन्धों में पहली स्थिति को अपनाए और यह मानकर चले कि सभी कविताएँ, भाषा के ही रूप हैं पर भाषा के सभी रूप कविता नहीं हैं।

इसके अतिरिक्त सपोर्टा अपने विवेचन में तीन और मान्यताओं की ओर संकेत देते हैं। वाक्य-गठन-सम्बन्धी विवरण और विश्लेषण की ओर आलोचक को अर्थ-विश्लेषण के पहले प्रवृत्त होना चाहिए क्योंकि वितरण-सम्बन्धी विवरण को अधिक सटीक और वैज्ञानिक ढंग से दिया जाना संभव है। दूसरा, शैली-विज्ञान, भाषा-विज्ञान के ज्ञान पर आधारित है क्योंकि बिना व्याकरण के सन्दर्भ के शैली का निरूपण ही नहीं किया जा सकता। अन्तर है तो केवल इतना कि जब व्याकरण मूलतः नियम-निर्देशात्मक (प्रि-डिक्टिव) होता है वहाँ शैली-विज्ञान का लक्ष्य विवरणात्मक और वर्गीकरणात्मक (क्लासीफिकेटरी) रहता है। तीसरा, कविता अगर 'नॉर्म' से अलग हटी हुई भाषा है, तब कविता में यह स्थिति दो ढंगों से आती है। एक ओर तो कविता की भाषा 'नॉर्म' की तुलना में अतिरिक्त नियमों का अपने ऊपर आरोपण करती है, इसका उदाहरण छन्द या तुक-निर्माण में देखा जा सकता है। दूसरी ओर कविता की भाषा, 'नॉर्म' की तुलना में कहीं अधिक स्वच्छन्द होती है और इस प्रकार कुछ सामान्य नियमों का अतिक्रमण करती देखी जा सकती है; उदाहरण के लिए, 'पेड़ फुसफुसाते हैं', अथवा, 'हवा सीटी बजाती है' ऐसे वाक्य 'नॉर्म' के नियमों का अतिक्रमण करते हैं।

सपोर्टा द्वारा प्रतिपादित मान्यताओं पर दो आधारभूत आपत्तियाँ उठाई जा सकती हैं। पहली आपत्ति तो यह है कि वे 'वस्तु' की प्रकृति को विश्लेषणात्मक प्रणाली द्वारा नियंत्रित करना चाहते हैं। अतः विश्लेषणात्मक प्रणाली की अपनी सीमा भी उनके लिए वस्तु की प्रकृति की सीमा बन जाती है। भाषा या कविता प्रकृत स्वरूप में क्या है—यह एक प्रश्न है और भाषा-विज्ञान अथवा काव्यशास्त्र उसको कहाँ तक जान पाता है, या उसकी प्रकृति से उस सीमा तक परिचित हो सकता है—यह सर्वथा दूसरा प्रश्न है। 'वस्तु' विभिन्न कालों में अपने आधारभूत रूप में एक रह सकती है पर उसके विश्लेषण की रीति विकसित होती रहती है। फलतः वस्तु के प्रति ज्ञान बढ़ सकता है, उसको और सही ढंग से जाना जा सकता है। भाषा-विज्ञान और काव्यशास्त्र का इतिहास स्वयं में इसका उदाहरण है कि एक वस्तु को देखने की दृष्टि और उसके विश्लेषण की प्रणाली में विकास हुआ

है न कि उस वस्तु का; उदाहरण के लिए, किसी एक निश्चित काल में बोले जाने वाले संस्कृत-भाषा के रूप को ही लें अथवा कालिदास की रचना 'अभिज्ञानशाकुन्तल' को देखें। एक निश्चित काल की संस्कृत भाषा और विशेष कृति 'अभिज्ञान-शाकुन्तल' मूल रूप में वही है, पर हमारी विश्लेषणात्मक प्रणाली के विकसित होने के फलस्वरूप उनकी मूल प्रकृति के ज्ञान में हमारी वृद्धि हुई है न कि उस वस्तु की मूल-प्रकृति में। और अगर यह तथ्य सही है तो निश्चय ही वस्तु की मूल प्रकृति, विश्लेषणात्मक प्रणाली को नियन्त्रित करेगी न कि प्रणाली वस्तु को पारिभाषित करने में सक्षम होगी।

जब सपोर्टा यह कहते हैं कि कविता के अध्ययन में भाषा-वैज्ञानिक विश्लेषण की पहली माँग यह है कि भाषा-वैज्ञानिक यह स्वीकार करे कि कविता भाषा का ही एक रूप है और इसके अतिरिक्त वह जो भी है वह उसके लिए त्याज्य और अग्राह्य है, तो वस्तुत: वे विश्लेषण की सीमा को ही कविता की सीमा मान बैठते हैं। वैसा ऊपर संकेत दिया जा चुका है—यह सीमा, न तो कविता की सीमा है, क्योंकि कविता की मूल-प्रकृति विश्लेषणात्मक प्रणाली से अलग अपनी सत्ता रखती है और न यह अध्ययन की प्रणाली की ही सीमा मानी जा सकती है क्योंकि प्रणाली का विकास सम्भव है, और उसका प्रसार भी।

कविता के सन्दर्भ में जब सपोर्टा भाषा-वैज्ञानिक प्रणाली से प्राप्त निष्कर्षों और अन्तर्ज्ञान के फलस्वरूप जाग्रत बोध में असंगति की चर्चा उठाते हैं तब यह भूल जाते हैं कि अगर अन्तर्ज्ञान से जाग्रत बोध के सही-गलत होने की बात उठाई जा सकती है, तो प्रणाली के वैज्ञानिक-अवैज्ञानिक होने का प्रश्न भी उठाया जा सकता है। विश्लेषणात्मक निष्कर्ष और अन्तर्ज्ञान को लेकर चार स्थितियाँ हो सकती हैं—

१. प्रणाली वैज्ञानिक है पर अन्तर्ज्ञान गलत।
२. प्रणाली अवैज्ञानिक है पर अन्तर्ज्ञान सही।
३. प्रणाली वैज्ञानिक है और अन्तर्ज्ञान सही।
४. प्रणाली अवैज्ञानिक है और अन्तर्ज्ञान भी गलत।

इसमें अन्तर्विरोध की समस्या पहली दो स्थितियों में ही मुख्य रूप से उभरती है और इन दोनों स्थितियों में उनका निराकरण सम्भव है। उदाहरण के लिए अगर प्रणाली वैज्ञानिक है अर्थात् भाषा-वैज्ञानिक निष्कर्ष सही है और कविता-पाठ के अन्तर्ज्ञान से उत्पन्न बोध गलत है, तो उस बोध को गलत सिद्ध किया जा सकता है और पाठकों में बोध की सही दिशा उत्पन्न की जा सकती है। अन्तर्ज्ञान से प्राप्त बोध का सीधा सम्बन्ध पाठकों के ज्ञान की पूर्व-पीठिका और कविता के सन्दर्भ के साथ रहता है। उसके ज्ञान की पूर्व-पीठिका का विकास अगर उस स्तर पर कर दिया जाए, जिसको वैज्ञानिक विश्लेषण अपनाता है तो इसमें सन्देह नहीं कि कविता का सन्दर्भ उस ज्ञान के आधार पर नया बोध प्रदान करेगा जो भाषा-वैज्ञानिक निष्कर्षों के समरूप होंगे। एक ही कविता का पाठ स्कूल के बच्चे भी करते हैं, विश्वविद्यालय के छात्र भी और पढ़े-लिखे सहृदय व्यक्ति भी, पर उनके अन्तर्ज्ञान से उत्पन्न बोध भिन्न होते हैं। काव्य-शास्त्र की एक समस्या यह भी है कि वह पता दे कि किसी कविता का उचित बोध या मर्म क्या है? अगर भाषा-वैज्ञानिक विश्लेषण इस दिशा में कुछ सहायता दे सकता है तो वह उसकी अपनी उपलब्धि तो होगी ही, काव्य-शास्त्र को अन्तर्ज्ञान से हटाकर वैज्ञा-निकता की ओर लाने में सहायक भी सिद्ध होगी।

पर यह भी सम्भव हो सकता है कि जिस प्रणाली को भाषा-वैज्ञानिक, वैज्ञानिक समझता हो, वह ज्ञान के व्यापक सन्दर्भ में अवैज्ञानिक हो अथवा उसकी प्रणाली विकसित न होने के कारण सत्य के रूप दो निश्चित पक्षों की ओर ही संकेत देने में समर्थ हों जिसे वह सत्य का पूर्ण-रूप मान बैठे। उस स्थिति में क्या यह उचित न होगा कि प्रणाली का विकास और प्रसार किया जाए, अधिक-से-अधिक पक्षों का ज्ञान प्राप्त किया जाए। अभी तक अगर भाषा-वैज्ञानिक प्रणाली कविता के एक-दो पक्षों के विवेचन तक ही सीमित है, अथवा अर्थ-विज्ञान को समझने की प्रणाली अगर विकसित न होने के कारण अधूरी है अत: वाक्य-गठन पर ही अधिक आग्रह रखती है, तो इसका यह अर्थ तो नहीं कि कविता को उसी सीमा तक बाँधकर रखा जाए, जहाँ तक उसकी प्रणाली सीमित करती है। कहने का तात्पर्य यह कि 'कविता' के क्षेत्र की अपनी सम्भावना एक वस्तु है, और उसके अध्ययन, विश्लेषण के क्षेत्र को प्रणाली के अनुरूप सीमित करने का सवाल दूसरा है। सिद्धान्त-रूप में कविता की परिभाषा अपनी सम्भावना के अनुरूप होनी चाहिए और व्यवहार पक्ष में उसके अध्ययन-क्षेत्र की परिधि विश्लेषणात्मक प्रणाली की अपनी स्थिति के आधार पर निर्धारित होनी चाहिए। इसके साथ ही व्यवहार-पक्ष का प्रयत्न यह भी होना चाहिए कि

वह सिद्धान्त पक्ष के पूरे सीमा-क्षेत्र के अध्ययन-विश्लेषण के लिए अपनी प्रणाली का विकास-प्रसार करे।

●

मोटे तौर पर अगर हम यह मानकर चलें कि कविता का अध्ययन जब हम कला के अन्य क्षेत्रों—संगीत, चित्र आदि की उपलब्धियों के सन्दर्भ में करते हैं, उस समय वह 'काव्य-शास्त्र' के अन्तर्गत आता है और जब हम भाषा की सामान्य प्रकृति के परिप्रेक्ष्य में उसका विश्लेषण और विवेचन करते हैं, उस समय वह 'शैली-विज्ञान' के क्षेत्र में आता है, तब एक प्रश्न यह भी उठ सकता है कि काव्य-शास्त्र और शैली-विज्ञान के बीच अपने सम्बन्ध क्या हैं ? क्या काव्य-शास्त्र और शैली-विज्ञान, दो विभिन्न एवं असम्बद्ध क्षेत्र हैं अथवा एक ही वस्तु (कविता) को देखने की मात्र दो विभिन्न दृष्टियाँ हैं ? दूसरे शब्दों में कहें तो यह पूछा जा सकता है कि क्या विभिन्न 'लक्ष्यों' के कारण ये दोनों क्षेत्र एक-दूसरे से अलग हैं अथवा लक्ष्य तो एक है, पर उनकी परीक्षण-प्रणाली भिन्न हैं अतः वे दो निर्दिष्ट क्षेत्र हैं ?

इस प्रश्न को लेकर विद्वान् एकमत नहीं दिखाई देते। रेने वेलेक-कोझिनोव अथवा सोल सपोर्टा रेविजन आदि विद्वान् 'शैली-विज्ञान' को मात्र भाषा-विज्ञान के क्षेत्र की वस्तु समझते हैं और इस आधार पर कि काव्य-शास्त्र और भाषा-विज्ञान की अध्ययन-प्रणाली के साथ-साथ उनके लक्ष्य भी भिन्न हैं, काव्य-शास्त्र और शैली-विज्ञान को ज्ञान के दो अलग-अलग विषय घोषित करना चाहते हैं। विद्वानों का एक दूसरा समुदाय है जो शैली-विज्ञान को केवल भाषा-विज्ञान की वस्तु नहीं मानता। इन विद्वानों के अनुसार काव्य-शास्त्र और भाषा-विज्ञान के सम्मिलित सहयोग से आलोचना की एक नई प्रणाली विकसित हो सकती है जो एक ओर 'काव्यात्मकता' का विश्लेषण-परीक्षण भी करेगी और उसकी प्रणाली भी वैज्ञानिक होगी। उनके अनुसार 'शैली-विज्ञान' के रूप में कविता के विश्लेषण की जो नई पद्धति विकसित हो रही है वस्तुतः वह अपने स्वरूप एवं प्रकृति में इसी सम्भावना पर आधारित है। **एडवर्ड स्टेंकविक्ज** के अनुसार भाषा-वैज्ञानिक जो अपने क्षेत्र में वस्तुवादी और वैज्ञानिक दृष्टिकोण अपनाने में समर्थ सिद्ध हुआ है वह एक साहित्यिक आलोचक को भी उसके सिद्धान्त-क्षेत्र में गहरी दृष्टि और विश्लेषणात्मक परीक्षण में वैज्ञानिक पद्धति दे सकता है। लेकिन इसके लिए आवश्यक है कि भाषा-वैज्ञानिक को यह मालूम हो कि उसकी परीक्षण-सामग्री किन तथ्य-समूहों पर आधारित है। इस जानकारी के बिना उसका काव्य-भाषा का अध्ययन परम्परा से चले आ रहे भाषा-वैज्ञानिक विश्लेषण से आगे नहीं बढ़ सकता। अगर भाषा-वैज्ञानिक और काव्य-समीक्षक के सहयोग को फलप्रद बनाना है तब यह आवश्यक है कि भाषा-वैज्ञानिक काव्य-रूपों एवं उसकी परम्परा से सम्बन्धित सभी प्रश्नों से भली-भाँति परिचित हो और काव्य-समीक्षक को भी आधुनिक भाषा-विज्ञान की अपनी प्रगति, उसके द्वारा अपनाई जा रही नवीनतम पद्धति और इस क्षेत्र की उपलब्धियों का सही ज्ञान हो।"[७]

रोमन याकोब्सन शैली-विज्ञान को भाषा-विज्ञान का ही एक अंग मानते हैं, पर ध्यान रहे कि उनके भाषा-विज्ञान का क्षेत्र सामान्य रूप में मान्य भाषा-विज्ञान के क्षेत्र से कहीं अधिक व्यापक है। उनके भाषा-विज्ञान के क्षेत्र के भीतर न केवल अकाव्यात्मक (कैजुअल) वाक्य आते हैं वरन् 'काव्यात्मक' (नॉन-कैजुअल) वाक्य भी उसी सीमा-क्षेत्र के भीतर हैं। उनके अनुसार काव्य-शास्त्र को भाषा-विज्ञान के क्षेत्र से बाहर निकालने का प्रयत्न करने वाले वे भाषा-वैज्ञानिक है जो भाषा-विश्लेषण की तथ्य-सामग्री के रूप में केवल अत्यन्त व्यवस्थित अकाव्यात्मक वाक्यों को स्वीकार करते हैं अथवा जिनके मत के अनुसार अध्ययन की सीमा केवल व्याकरण-क्षेत्र की परिधि तक सिमटी रहती है, या जो अर्थ को केवल वस्तुओं के सूचक-कार्यफलन तक बाँधकर रखते हैं बिना यह जाने कि भाषा के अन्य कार्यफलन भी हो सकते हैं। उनके मत के अनुसार यह ठीक है कि किसी भी एक भाषा को व्यवहार में लाने वालों के सामाजिक वर्ग के लिए भाषा एक ही होती है, लेकिन इस एक भाषा की व्यवस्था के भीतर कई उपव्यवस्थाएँ होती हैं। हर उप-व्यवस्था भाषा-संघटना का एक निश्चित 'पैटर्न' प्रदान करती है और एक भाषा के बीच पाये जाने वाले 'पैटर्न' और 'सब-पैटर्न' में एक निश्चित सम्बन्ध होता है तथा हर पैटर्न, भाषा के एक निश्चित कार्यफलन का परिणाम होता है।

भाषा-विज्ञान का कार्य-क्षेत्र, भाषा की प्रत्येक संघटना का पता लगाना है, 'पैटर्न' और 'सब-पैटर्न', सबकी खोज करना है और उसके सन्दर्भ में उन सभी कार्य-फलन का विश्लेषण करना है जो भाषा के विभिन्न स्तरों पर विभिन्न

'पैटर्न' 'सब-पैटर्न' के साथ जुटा होता है। कविता में भाषा के जिस 'पैटर्न' या 'सब-पैटर्न' को हम पाते हैं उसकी अपनी विशिष्टता होती है और इस विशिष्टता को हम 'सब-पैटर्न' के साथ उसके कार्य-फलन को जोड़कर जान सकते हैं। भाषा-विज्ञान अगर भाषा के भीतर पाये जाने वाले सभी 'पैटर्न' एवं 'सब-पैटर्न' तथा तज्जनित कार्य-फलन को अपना अध्ययन-क्षेत्र स्वीकार करना है तब कविता को उसके सीमा-क्षेत्र से बाहर नहीं किया जा सकता।

अपने लेख 'भाषा-विज्ञान और काव्य-शास्त्र' के निष्कर्ष-रूप में उनका कहना है—"अगर कवि रैंसम का यह कथन सही है (और वह सही है) कि 'कविता, भाषा का ही एक रूप है' तब भाषा को अपनी अध्ययन-सामग्री बनाने वाले भाषा-वैज्ञानिक को अपने कार्य-क्षेत्र के भीतर कविता को भी स्वीकार करना ही होगा। इस सम्मेलन ने भली-भाँति सिद्ध कर दिया है कि अब वह समय हमसे काफी पीछे छूट गया है जब भाषा-वैज्ञानिक और साहित्य के इतिहासकार काव्य-संघटना-सम्बन्धी प्रश्नों को टाल जाया करते थे।...अगर अभी भी कुछ आलोचक ऐसे हैं जो काव्य-शास्त्र की चर्चा को भाषा-विज्ञान की सामर्थ्य-शक्ति के बाहर समझते हैं तब मैं व्यक्तिगत रूप से इसमें विश्वास रखता हूँ कि काव्यात्मक असक्षमता को भूल से स्वयं भाषा-विज्ञान की ही सीमा समझा जाने लगा है। यहाँ पर उपस्थित प्रायः सभी व्यक्ति यह अनुभव कर रहे हैं कि भाषा के काव्य-फलन के प्रति बधिर भाषा-वैज्ञानिक और भाषा-वैज्ञानिक समस्याओं से उदासीन एवं भाषा वैज्ञानिक प्रणाली से अपरिचित साहित्य-शास्त्री, दोनों ही समान रूप से अपने समय से बहुत पीछे हैं।"[८]

जहाँ तक काव्य-शास्त्र और भाषा-विज्ञान के अन्तस्सम्बन्धों का प्रश्न है, याकोब्सन के अनुसार संघटनात्मक स्तर पर काव्य-शास्त्र, भाषा-विज्ञान का एक अभिन्न अंग है। जिस प्रकार चित्रकला की विवेचना का सम्बन्ध चित्रों की संघटना से सम्बन्धित रहता है, उसी प्रकार काव्य-शास्त्र का सम्बन्ध शाब्दिक संघटना की समस्याओं के साथ रहता है और शाब्दिक संघटना के अध्ययन का मूल विज्ञान भाषा-शास्त्र है, अतः काव्य-शास्त्र भाषा-विज्ञान का अपना (विशिष्ट) एक अंग है।

लेकिन साथ में काव्य-शास्त्र मूलतः इस प्रश्न को लेकर भी चलता है कि वह **कौनसे तत्त्व हैं जो शाब्दिक सन्देश (मेसेज) को कला की वस्तु बना देते हैं?** जब काव्य-शास्त्र को इस सन्दर्भ में कला के अन्य क्षेत्रों से 'व्यवच्छेदक दृष्टि' के आधार पर ग्रहण किया जाता है अर्थात् जब यह देखने का प्रयास किया जाता है कि शाब्दिक-कला के रूप में ग्रहीत कविता, कला के अन्य क्षेत्रों अथवा अन्य शाब्दिक व्यवहार (वर्बल बिहेवियर) से किस आधार पर भिन्न है तब निश्चय ही साहित्यिक क्षेत्र में उसका एक प्रमुख स्थान बन जाता है।

भाषा और साहित्य के प्रसिद्ध सोवियत मर्मज्ञ **विनोग्रादोव** के अनुसार काव्य-शास्त्र को मात्र भाषा-विज्ञान के क्षेत्र में रखना असंगत होगा। कला-शैली की सैद्धान्तिक और व्यावहारिक समीक्षा की सबसे बड़ी कठिनाई इसलिए उत्पन्न होती है कि कविता में गुणात्मक स्तर पर दो नितान्त भिन्न सामाजिक कार्य-फलों का वह अभिन्न संयोग होता है अर्थात् भाषा और साहित्य, गुणात्मक स्तर पर दो भिन्न क्षेत्र हैं, सामाजिक कार्य-फलन की दृष्टि से भी ये दो तत्त्व हैं पर कविता की विशेषता इसी में है कि इन दो नितान्त भिन्न तत्त्वों को वह अपनी संघटना में एक साथ अन्तर्निहित किए रहती है। उनके अनुसार जब हम भाषा के सन्दर्भ में शैली की चर्चा उठाते हैं, तब भाषा-शैली होने के कारण उसका यह पक्ष 'भाषा-विज्ञान' के भीतर आता है और जब हम साहित्य के व्यापक सन्दर्भ में शैली की बात करते हैं, तब उसका दूसरा पक्ष सामने आता है जिसे 'साहित्यिक शैली' कहा जा सकता है जो भाषा-विज्ञान का नहीं वरन् साहित्य का अपना क्षेत्र है। ये दोनों शैलियाँ—भाषा एवं साहित्य, अपने सम्मिलित सहयोग और कार्य-फलन के अपने निजी संतुलन के परिणामस्वरूप 'कला-शैली' को जन्म देती हैं। काव्य-शास्त्र के अन्तर्गत जब कला-शैली की चर्चा उठाई जानी चाहिए तब उनके अनुसार उसमें भाषा और साहित्य, दोनों ही शैलियों का विश्लेषण होना अपेक्षित है। अतः काव्य-शास्त्र शैली के सन्दर्भ में मात्र भाषा-विज्ञान की वस्तु नहीं, उसके कुछ पक्ष उससे अलग भी हैं और कविता के विवेचन में इन दोनों पक्षों को अलग रखना अनिवार्य है।[९]

अपने विवेचन में विनोग्रादोव यह स्पष्ट नहीं कर पाते कि भाषा और साहित्य शैली के अन्तर्द्वन्द्व के फलस्वरूप आविर्भूत 'कला-शैली' का स्वरूप क्या है? फिर स्पिट्जर के मत का खण्डन तो वह करते हैं पर यह प्रतिपादित नहीं कर पाते कि जिसे वह 'साहित्य-शैली' कहते हैं उसे कविता

के सन्दर्भ में भाषा के माध्यम से समझाया जाना संभव है अथवा नहीं। अगर भाषा के आधार पर समझना सम्भव नहीं तब उसे भाषा-शैली के सीमा-क्षेत्र से बाहर रखना ठीक है, पर अगर भाषा की अपनी व्यवस्था एवं आन्तरिक संघटना के आधार पर उसे परखना और जानना सम्भव है तब कहीं ऐसा तो नहीं कि उनके द्वारा स्थापित साहित्यिक शैली भाषा की आन्तरिक संघटना के विशिष्ट कार्य-फलन का ही परिणाम है।

झिरमुन्स्की के अनुसार कला-शैली को भाषा के आधार पर नहीं समझाया जा सकता। कविता की कला-शैली का सम्बन्ध, कवि की जीवन-दृष्टि और उसके भाव-जगत् के साथ होता है जो यद्यपि शब्दों के माध्यम से तो व्यक्त होता है पर शब्दों की ही परिधि में ही सिमटा नहीं होता। कविता शब्दों के पार जाकर समाधीकृत बौद्धिक प्रत्ययों से ऊपर उठकर अबौद्धिक जगत् की सृष्टि करती है?[10]

अगर विनोग्रादोव और झिरमुन्स्की की बात मान भी ली जाए, तो इससे यह सिद्ध नहीं होता कि कविता में जिस भाषा का प्रयोग होता है अथवा अपने माध्यम को कविता जिस रूप में अपनाती है और उसके सहारे जिस 'अबौद्धिक कथ्य' अथवा 'भावजगत् की जीवन-सृष्टि' को वह व्यक्त करती है, उसके बीच कोई अन्तरंग सम्बन्ध नहीं। यह तो कहा जा सकता है कि बोलचाल की सामान्य भाषा 'अबौद्धिक कथ्य' या 'जीवन-दृष्टि' का माध्यम बनने में समर्थ नहीं। कविता की भाषा 'काव्यात्मक' भी तो इसीलिए है कि वह बोलचाल की इस अक्षमता को अन्य साधनों से दूर करती है, अपनी सम्भावनाओं का प्रसार करती हुई वह एक असामान्य स्तर पर असामान्य कथ्य को भी अन्तर्भुक्त कर लेती है। जिस कारण से भाषा की सामान्य स्थिति असामान्य हो उठती है उस कारण की ओर संकेत भाषा की असामान्य स्थिति देती है। सवाल तो इसका है कि भाषा की असामान्य स्थिति और उस असामान्य स्थिति में पहुँचाने वाले कारण (कविता में—'अबौद्धिक कथ्य' और भावजगत् की जीवन-दृष्टि) के बीच के सम्बन्धों की प्रकृति क्या है? क्या इन सम्बन्धों की प्रकृति को अनुसन्धान का विषय बनाना सम्भव है? 'अबौद्धिक कथ्य' तक भाषा की सामान्यीकृत प्रकृति का सहारा लेते हुए पहुँचा जा सकता है।

कविता के 'अबौद्धिक कथ्य' का पता अगर कविता ही देती है तो निश्चय ही कविता जिस माध्यम से उसे अपने भीतर सँजोती है, उस माध्यम का विश्लेषण ही सँजोई गई वस्तु को सही दिशा में समझने में सहायक होगा। स्पिट्ज़र के अनुसार "यह कहने के बजाय कि कविता **शब्द-निर्मित** नहीं होती और कविता में शब्द अपने अर्थ से मुक्त होकर, बौद्धिक-प्रत्यय के पार जाकर लयात्मक प्रत्यय का सृजन करते हैं, मैं यह कहना चाहूँगा कि कविता **शब्द-निर्मित** ही होती है और उन शब्दों का अर्थ भी उसमें **'स्थित'** रहता है। लेकिन कवि की चमत्कारपूर्ण प्रतिभा, जो काव्य-संघटना को एक समग्र दृष्टि के लयात्मक प्रत्यय में बाँधता है, इन शब्दों एव उसमें स्थित अर्थ को बौद्धिक प्रत्यय के पार ले जाकर लयात्मक प्रत्यय तक पहुँचा देती है। और यह भाषा-शास्त्र के अध्येता का कार्य है कि वह इस तथ्य का विश्लेषण करे कि निर्देशित रूपान्तरण की प्रक्रिया क्या है। कविता के अबौद्धिक पक्ष भाषा-वैज्ञानिक आलोचक के हाथों में अपनी सत्ता खो नहीं देते अथवा उनके हाथों उनका अस्तित्व समाप्त नहीं हो जाता। इसके ठीक विपरीत वह कवि के साथ सामंजस्य स्थापित करते हुए कार्य करेगा (यह बात दूसरी है कि वह कवि की स्वीकृति की अपेक्षा नहीं रखेगा) और धैर्यपूवक विश्लेषणात्मक पद्धति का सहारा लेते हुए उस पथ को ढूँढ़ने का प्रयत्न करेगा जो बौद्धिक से अबौद्धिक की ओर कविता को ले जाता है और जिस दूरी को कवि अपनी एक छलाँग में ही तय कर लेता है।[11]

कहने का तात्पर्य यह है कि अगर यह स्वीकार भी कर लिया जाए कि कविता 'अबौद्धिक कथ्य' और 'भाव-जगत् के सत्य' को लेकर चलती है तब भी उसे पाने और समझने का रास्ता शब्द और उसमें निहित अर्थ का ही है। शैली-विज्ञान, कविता के इस 'अबौद्धिक कथ्य' और 'शाब्दिक प्रत्यय' के सम्बन्धों का ही विश्लेषण प्रस्तुत करता है और यह देखने का प्रयत्न करता है कि शाब्दिक प्रत्यय का रूपान्तरण किन स्थितियों में और किन माध्यमों द्वारा 'अबौद्धिक कथ्य' में हो जाता है। विश्लेषण की इस प्रक्रिया का आधार वहाँ भाषा के विभिन्न कार्य-फलन और काव्य-भाषा की अपनी संघटना होते हैं और ये दोनों मूलतः भाषा-विज्ञान के क्षेत्र के भीतर आते हैं, अतः शैली-विज्ञान को भाषा-विज्ञान का ही एक अंग माना जा सकता है, जहाँ विश्लेषणात्मक प्रणाली,

भाषा-वैज्ञानिक है, पर जिसकी विश्लेषणात्मक सामग्री भाषा का सामान्य रूप न होकर उसका विशिष्ट, साहित्यिक पक्ष होता है और जहाँ भाषा के उस विशेष कार्य-फलन को केन्द्र बनाया जाता है जिसके सहारे कवि शब्दों के साथ बँधे बौद्धिक-प्रत्यय का रूपान्तरण अबौद्धिक कथ्य में करने में समर्थ सिद्ध होता है।

सन्दर्भ-ग्रन्थ सूची

1 Rene' Wellek : 'From the Veiwpoint of Literary Criticism', (closing statement), 'Style in Language', Ed. by Thomas A. Sebeok, New York—London (1960) p. 408-9.

२. ग० ओ० विनोकुर, रूसी भाषा-सम्बन्धी लेखों का संकलन (रूसी में), मास्को (१६५६), पृ० २५१-३।

३. व० कोभिनोव, 'क्या संघटनात्मक काव्यशास्त्र सम्भव है' (रूसी में) साहित्यिक समस्याएँ, ६ (१६६५), पृ० ८२-१०७।

४. ई० रेव्जिन : 'कलात्मक रचनाओं के संघटनात्मक अध्ययन के लक्ष्य' (रूसी में), साहित्यिक समस्याएँ, ६ (१६६५), पृ० ७३-८७।

५. व० न० तोपोरोव : 'भाषा-विज्ञान और काव्य-शास्त्र की समीक्षा' (रूसी में), रूपवादी (टाइपोलाजिकल) विश्लेषण, मास्को (१६६२), पृ० २६४।

6. Sol Saporta : 'The Application of Linguistics to the Study of Poetic Language', Style in Languages, p. 82-93.

7. Edward Stankiewiez : 'Linguistics and the Study of Poetic Language', Style in Language, p. 69-81.

8. Roman Jakobson : 'Linguistics and Poetics', Style in language, p. 350-377.

६. व० व० विनोग्रादोव : 'शैली-विज्ञान'—काव्य-भाषा के सिद्धान्त, काव्य-शास्त्र (रूसी में), मास्को (१६६३), पृ० १६४-२००।

१०. व० म० भिरमुन्स्की : गेटे और बायरन की काव्य-रचना, (रूसी में), मास्को में आयोजित साहित्यिक कृतियों के शैली-सम्बन्धी सम्मेलन में पढ़ा गया शोध-पत्र, मास्को (१६६१), पृ० २६।

11. Leo Spitzer : 'Three Poems on Ecstacy', Essays on English and American Literature, Ed. by Anna Hakher, Princeton (1962), p. 141-42.

सम्प्रेषणीयता : कुछ कथन

धर्मेन्द्र गोयल

१. साहित्य, कला अथवा अन्य सामाजिक व्यापार बहु-व्यवित प्रसंग में। उपलब्ध हैं 'सम्प्रेषण' एक साधारण प्रक्रिया है जो संस्कृति के इन सभी विविध तत्त्वों में अनिवार्य है।

२. जरूरी नहीं कि सारी सम्प्रेषण-विधियाँ भाषा की अभिधामूलक विधि के अनुरूप ही हों। कुछ लक्षणा, व्यंजना में अथवा उनसे भी बाहर हो सकती हैं। सम्प्रेषण की जिस चर्चा को लक्ष्य करके यह कथन गढ़े जा रहे हैं, उस बहस में वस्तुपरक अथवा विवरणात्मक भाषा की चर्चा से कोई सरोकार नहीं है। भाव, राग, संवेदना, अनुभूति (जो वस्तु-जगत् के सपाट तथ्यों से कुछ जटिल हैं) के कथ्य किस प्रकार कहाँ तक साहित्य की विधाओं या साहित्य-जैसी दिखने वाली कृतियों में सम्प्रेषित हो सकते हैं ? गूढ़ता, व्यक्ति-संवेदना का 'अवाच्य' अथवा 'अनिर्वचनीय' रूप अनुभूति की जीवनी का सहज अंग है। किन्तु क्या इस जीवनानुभूति का सौष्ठव, निखार और सुनिश्चित रूपायन तथा मूर्त संवेदनाओं में पुनर्निर्माण भाषा की शक्तियों (जो कि रूढि, प्रयोग-विलास, विभिन्न अलंकारों के नियोजन और अन्य तोड़-मरोड़ हैं) के माध्यम से कृति में सफलतापूर्वक अवतरित किया जा सकता है ? अथवा इस सम्प्रेषण की सीमाएँ हैं ? और यदि सीमाएँ हैं भी, तो क्या वे स्वयं भाषा की शक्ति (अथवा अन्य माध्यम की) सीमा हैं, अथवा उस विशेष अनुभूति की अनुकृति करने वाली रचना-प्रक्रिया की तथ्यमूलक सीमा हैं ? यह प्रश्न विचारणीय है। इसको ध्यान में रखकर ही नीचे के कथन पढ़े जाएँ तो अच्छा हो।

३. सम्प्रेषण के कई विविधधर्मी आयाम साहित्य-विश्लेषण में संकेतित हैं। कृति की सर्जनात्मक एकता भी उसी को ध्यान में रखते हुए काफी संश्लिष्ट समझी जानी चाहिए। उसकी संयोजना अनमेल स्तर के कई तत्त्वों (भाषा, स्तर, भाव, प्रतीक, बिम्ब, बोध आदि) को अपने कथ्य के अनुरूप एक कृति को ढालने में संलग्न पाई जाएगी। कृति 'कथ्य' की विशिष्टता एवं चारुता को अवतरित करने में समर्पित होती है। कहाँ तक यह समर्पण सफल सम्प्रेषण कर पाता है, उक्त कृति के मूल्यांकन द्वारा जाना जाता है। यह तो सहज ही स्पष्ट है कि कृति का समूचा सम्प्रेषण एक-स्तरीय नहीं होता, और प्रायः एकाएक भी नहीं हो पाता, यद्यपि इसके अपवाद मिल सकते हैं। किसी सुहृद अथवा रसविद को प्रथम प्रतिक्रिया में ही कलाकृति के सभी आयाम एकाएक चमत्कृत करते देखे जाते हैं, किन्तु इस प्रकार का चरम मार्मिक रसास्वादन प्रायः कम होता है। ऐसी स्थिति में प्रायः जो भ्रामक निष्कर्ष सिद्ध समझे जाते हैं कि कला सम्प्रेषण वस्तुनिष्ठ नहीं होता, अथवा रुचि-सापेक्ष होता है, दूसरे शब्दों में स्वयं कलाकृति व्यक्तिनिष्ठ सत्य को प्रतिपाद्य मानती है, अथवा असम्बोधित होती है आदि—गलत हैं, उनकी गलतियों को स्पष्ट करने का प्रयत्न मैं अपने बाकी कथनों में करूँगा।

४. साहित्य का संप्रेषण वक्तव्य पर केन्द्रित कभी भी नहीं होता। परन्तु सभी कृतियों में (कहानी, उपन्यास, नाटक, काव्य) विवरण वाक्य और वक्तव्य प्रयुक्त किए जाते हैं, किन्तु उनकी स्थिति सहज दैनंदिन भाषीय कथनों से तुलनीय नहीं होती। उन कथनों की सत्यता साधारण तथ्यमूलक युक्ति से कथाचित् सिद्ध या असिद्ध करना हास्यास्पद लगे। मैं समझता हूँ बच्चों को छोड़कर कोई भी दूसरा पाठक साहित्य को संसार की घटनाओं का विवरण न समझता होगा। इसी प्रकार रचना-प्रक्रिया केवल रोचक और मुहावरेदार गद्य या परम्परागत शब्द-अनुशासन द्वारा लयबद्ध पद्य, छंद और ऐसी अन्य टकसाली कसरतों के साथ भी नहीं

घपलाई जा सकती । पाठ्यपुस्तकीय अथवा तथाकथित प्राध्यापकीय समीक्षा के आलोचना-व्यापार में इस प्रकार की वर्गणा, तुलनाखानापूरी, हदबन्दी व्यापक मात्रा में पाई जाती है, वह सब उक्त आलोचना की असमर्थता, कृत्रिमता और सीमा का ही ज्ञापन करती है। किन्तु 'शब्द' की अर्थ-सम्पदा को हानि पहुँचाने के लिए यह तथाकथित अकादमिक आलोचना ज़िम्मेदार है, तो यह भी मानने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए कि छद्म, कुण्ठित और रुग्ण वृत्तियों का अजूबा सजाना मात्र ही साहित्यिक प्रगति का एकमात्र दायित्व नहीं है। यह देखा जाता है कि जीवन के हर क्षेत्र की भाँति साहित्य में भी भाँडों, ठेकेदारों, किराए के टट्टुओं और भोंडे नक्कालों से छुटकारा आसान नहीं है। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं मानना चाहिए कि कलात्मक सम्प्रेषण सदा दूर की कौड़ी होता है और वस्तुत: रचना व्यर्थ के जाल की एक रोचक मुखौटा मात्र होती है, जिसके माध्यम से सनसनीखेज उन्माद, बकवास और रुग्ण मनोवृत्तियाँ व्यक्ति के छिपे भागों से निकलकर फट पड़ना चाहती हैं। शायद साहित्य जैसी चीज़ों में इस प्रकार के उन्मादग्रस्त और रुग्ण मनोभाव भी आ जाते हों, किन्तु 'साहित्य' इनके कारण नहीं होता, इनके होते हुए भी सम्भव होता है। प्रलाप, काम-उद्दीपन (पोर्नोग्राफी) की तिजारती भाषा में प्रस्तुत सन्निपात और 'साहित्य' में जिसे तमीज़ करने की शक्ति न हो, उसे साहित्य पर वक्तव्य देने का क्या कोई अधिकार हो सकता है? आज हमारे लिए यह विचारणीय होना चाहिए।

५. असम्प्रेषण, अवाच्य अथवा भाषा का संकट किसी रचनाधर्मी को तभी सालता है, जब उसके स्वत:निर्वाचित माध्यम की पूर्वगठित रूढ़ियाँ (मुहावरा, व्याकरण, छन्द, बिम्ब) उसे जकड़ी हुई लगें। प्रत्येक स्वस्थचित्त सर्जनशील कृतिकार पुनरावृत्ति और ड्रिल से न केवल अलग होता है, बल्कि अपनी कृति में प्रयोग से ही अपनी जिजीविषा कलात्मक अभिव्यंजना में चरितार्थ करता है। यह अभिव्यक्ति रचना-व्यापार के प्रतीक, बिम्ब, मुहावरों और सुचारु संगठनों के निर्माण में सतत संलग्न होती है। कृति की शक्ति और औचित्य इन तत्त्वों को आन्तरिक सौष्ठव नियोजन और एकता प्रदान कर सकने में होता है। कृति का जीवन्त सत्य कृतिकार के अनुभूत कथ्य को नए आयामों पर सम्प्रेषित करता है। इस प्रक्रिया में कलात्मक उपलब्धि तभी होती है, जबकि यह पूरी प्रक्रिया एक सौजन्यपूर्ण सहजता में उपस्थित हो सके। कृति के माध्यम से अनुभूत कथ्य अपनी पारदर्शी अभिव्यक्ति को सुहृद तक पहुँचाने के लिए सम्प्रेषण के आयाम प्रशस्त करता है। नए खोजी के जीवन-वृत्त से कला-शृंखला बँधी होती है। इसके विपरीत स्थितियों में केवल परम्परा स्वीकृत फार्मूलों पर रियाज़ से महारत हासिल की जा सकती है, पर उस किस्म की मेहनत, रियाज़, ड्रिल दकियानूस सड़ाँध भले हो कला नहीं है। ड्रिल चाहे फिर भरत के नाट्यशास्त्र की प्रस्थापनाओं पर हो, अथवा काव्यप्रकाश की काव्य-परिभाषाओं या और किसी फार्मूले पर···। किन्तु नवीनता भी प्रलाप, आक्रोश, अधकचरे उन्माद का पर्याय नहीं है। भाव-विह्वलता, असन्तुलन और रागात्मक तीव्रता जीवन में ही देखी जाती है। कला और साहित्य हमारी नियति न होकर हमारी स्वयं की सृष्टि है जो मूढ, असन्तुलित प्रतिक्रिया की सृष्टि नहीं होती। यह भी पहचाना जाए तो बात बराबर रहे।

६. साहित्य और कला-समीक्षक की यह बुनियादी जिम्मेदारी होती है कि अपनी विधा में उपलब्ध कृतियों के नूतन अर्थ-प्रकारों की संवेदनशील व्याख्या दे। रचना में प्रस्तुत कला-रूढ़ियों को अनावृत करे। सृजन की अनुभूति और अभिव्यक्ति के सम्बन्धों को स्पष्ट करे। कृति में उपस्थित प्रयोगों (विम्ब-योजना, स्वर-विधान, लयात्मकता अथवा छन्दहीनता) को निरखे-परखे और पूरी सहानुभूति से उसके कलात्मक मंतव्य को पहचानकर उसकी सफल-असफल अभिव्यक्ति पर निर्णय दे। आलोचक कम-से-कम सुहृद तो हो ही, कुछ सीमा तक उससे अधिक, विस्तृत प्रतिक्रिया करने में यदि वह कुशल हो, तो वेहतर है। समीक्षक को सतही वक्तव्यों, सिद्धान्तों और प्रचार के वेबुनियाद तूफानों से लड़ने की शक्ति अपने में पानी चाहिए। नैतिक साहस, संवेदनशीलता, कृति के प्रति समर्पण-भाव, वस्तुनिष्ठ व्याख्या और कृति की रचना-वृत्ति से सौन्दर्य की अनुभूति पाने की उत्कट जिज्ञासा भी, समीक्षक की निजी रचना के अनिवार्य तत्त्व हैं। इस दृष्टि से पूर्णत: प्रामाणिक समीक्षक हो सकना टेढ़ी खीर है, किन्तु यदि कोई ऐसा हो, तो भी कोई विशेष कला-कृति इतनी विशिष्ट हो सकती है कि उसकी अभिव्यक्ति की जटिल गहराई उससे भी अछूती रह जाए। उसमें कोई भी प्रतिक्रिया न हो सके। किन्तु ऐसे समीक्षक को भी ऐसी कला-कृति की जीवन्तता, वस्तुनिष्ठ सत्यान्वेषणा एवं मार्मिक मन्थन के बारे

में सम्भवतया कोई आशंका नहीं होगी। पूर्ण सम्प्रेषण के लक्ष्य को पाने के लिए रसवन्त कला प्रतिक्रिया द्वारा कलात्मक अनुभूति को निजी अनुभूति में पुनर्जीवित करना होता है, तो यह प्रयास कभी-कभी आंशिक प्रतीतियों के होने के कारण असफल हो जाता है। कोई-कोई कला-कृति एक पूरे समकालीन युग में अनपहचानी रह जा सकती है, किन्तु उसकी ऐसी चुनौती को कला-समीक्षक बिना पहचाने नहीं रह सकते।

७. प्रत्येक सृष्टि इस प्रकार कला-कृति में एक नया अर्थ-आयाम उजागर करने का मन्तव्य रखती है। नई ज़मीन तोड़कर हमारी बँधी-रुकी अनुभूति को, जीवनी को, नए अंकुर और रूपों से सजाती है। कई कलाकार अपनी कृति की परम नवीनता का उद्घोष यह कहकर करते हैं, कि वे जो करते हैं वह असम्प्रेषणीय है, असम्बोधित है और पूर्णतया 'अवाच्य' है। ऐसे कथन यदि पूरी जिम्मेदारी से लिए जायें तो ही विचारणीय हैं, यदि केवल पाठ-पुस्तकीय पाठकों-समीक्षकों को तिरस्कृत करने के मुखौटे हैं, तो इनका कोई महत्त्व नहीं है। जब यह बात पूरी सच्चाई से मानी जाती है तब इनके ऐसे कथनों के घपले को स्पष्ट करना आवश्यक हो जाता है। उम्मीद है कि स्वयं कलाकार इन पर विचार करे तो सहायता मिले। सम्भवतया कलाकृति के असम्प्रेषणीय होने के दावे के पीछे यह भयानक भय होता है कि सभी पाठक जाने-अनजाने कृति से वक्तव्य, कथन अथवा परिभाषाएँ पाने की आशा रख रहे हैं। हम पिछले कथनों में स्पष्ट कर चुके हैं कि ऐसी हास्यास्पद भूल आज के सुहृद पाठक में अनिवार्यतः सोचना परिहास हो तो हो, तथ्य नहीं है। किन्तु कलाकृति बिना कथन बने भी सार्थक सम्प्रेषण ज़रूर है, उसका अनुभूति-लाघव, संयोजन, बहु-गुणशीलता प्रतिक्रिया के द्वारा पुनर्निर्मित होकर अपने प्रथम सहचारी अनुभूत भावों, सत्य अथवा मंतव्य से सादृश्य प्राप्त कराने में ही निहित है, यदि ऐसा कुछ भी नहीं है, तो निरर्थक तत्त्वों के वर्ग और कृति में अन्तर सम्भव न हो सकेगा। रूढ़ि, व्याकरण, छंद, घिसे-पिटे मुहावरे को तोड़ना तथा प्रयोग, प्रतीक और अन्य नर-आयामों को पुरस्कृत करना 'असम्बोधन' अथवा 'निरर्थकता' का पर्याय नहीं है। अपनी परम्परा के प्रति खीझ को व्यक्त करने के लिए कृतिकार को केवल आक्रोश के नाते प्रलाप नहीं करना चाहिए, कम-से-कम अभिधामूलक दावों में।

८. कलाकृति सदा वैशिष्ट्य-धर्मा होती है, किन्तु उसमें एक सफल संरचनात्मक संतुलन और आन्तरिक गठन भी होता है, चाहे हमारे साधारण साक्ष्य से वह कितना ही विसंगतिपूर्ण या विरूप क्यों न लगे। इसलिए कोई कृति 'विरूपता से विरूपता तक' ही कभी बन्दी नहीं हो सकती। कला-अवयव और रूढ़ियाँ हमारी अनुभूतियों के रूप-उद्घाटन के, हमारी सृष्टि-मूलक कल्पना के स्वतंत्र तथ्य हैं, परन्तु यह तत्त्व स्वयं अपने अवमूर्तन के सफल होने पर वस्तुनिष्ठ सम्प्रेषण के लिए सौंदर्य-सृष्टि करते हैं। इन्हें केवल विरूपता, अराजकता अथवा अचेतन कुण्ठा से प्रस्तुत बाह्य अनुशासित घटनाओं से घपलाना न कलात्मक जीवन को समझना है और न कृति के आन्तरिक स्वातंत्र्य को।

९. इस सम्बन्ध में यदि 'असम्बोधन' और 'अकथ्य' के फतवेबाज़ धीरज से पिछले कथन को पढ़ सके हों, तो मुझे उनसे एक और संक्षिप्त अनुरोध करना है कि क्या उन्होंने स्वयं निजी वैयक्तिक अनुभूति की विशिष्टता को उसके जटिल ताने-बाने में समझने का कभी प्रयास किया है? यदि वे करते रहे हैं, तो उन्हें यह स्पष्ट पहचानना चाहिए कि कोई एक अनुभूति यदि पुनर्निर्मित न की जाये तो केवल एक क्षण के बाद स्वयं अनुभवकर्ता द्वारा भी पहचानी नहीं जा सकती? कलाकृतियाँ बार-बार कम-से-कम उनके रचने वालों को सर्जक मानसिकता की सही याद दिला जाती हैं, नहीं तो आप अपनी रचना के पाठक स्वयं आप भी नहीं हो सकते। जब क्षणिकवादी ने कहा कि आप एक नदी में दो बार नहीं उतरते—शिष्य ने कहा, "महाशय एक बार भी नहीं।" अस्तु।

१०. कला-जैसी संरचनाओं का लालित्य-बोध आदि कम-से-कम रचयिता को यदि मिलता है तो वह भी इसीलिए कि उक्त संरचना में प्रस्तुत अवयव अपनी योजना और विशेष गठन में पुनर्निर्मित किए जाकर चीन्हे जा सकते हैं, और यदि ऐसी चीह्न भी नहीं मिल पाती, तो कला-मंतव्य ही लुप्त हो जायेगा, और इस खण्डित यथार्थ-स्थिति को यदि कोई असम्प्रेषणीय यथार्थ माने तो मुझे किसी आपत्ति की गुंजाइश नहीं होगी।

११. लेकिन क्या आज के 'असम्बोधन' के फ़रमाबरदार निजी वैयक्तिकता की चीह्न छोड़ गये हैं? उन्हें अपने अनुभूत की विशिष्टता का क्या कोई आज भान नहीं है? यदि है, तो उन्हें जानना चाहिए कि उनका असम्प्रेषण का जेहाद केवल

पुरानी रुग्ण पक्षाघाती परम्परा के प्रति आक्रोश की प्रतिक्रिया-मात्र न होगा, वल्कि समस्त कलात्मक अनुभूति की रचना को नकार देगा। कविता सयत्न, सचेत, अनुभूति की परख, चुनाव और प्रयोजन के अनुरूप प्रयोग, प्रतीक और भाषा को गढ़ने से बनती है—की जाती है—ऐसा परम वैयक्तिक कवि भी मानता पाया जाता है, परन्तु यदि एक सीमित अनुभूत स्थिति से उवर उठ सकने के समस्त व्यवधान-साधन ही असाध्य हो जायें तो अनुभूति का साहचर्य एवं नैरन्तर्य भी असाध्य हो जाएगा। धीर विवेचन उन्हें यह दिखला सकता है, कि सम्प्रेषणीयता का दायरा, कथ्य, किसी एक विशेष शिल्प, फार्मूलों, रूढिगत कला, अभिप्रायों, प्रतीकों तक सीमित नहीं है। इन दो वर्गों को नासमझी के कारण आपस में घपलाना नहीं चाहिए। अवाच्य "केवल अवाच्य है साहित्य नहीं।" मौन और शब्द का तनाव सम्प्रेषण का ही औजार है, दुरूह रुग्णता का विज्ञापन नहीं।

१२. यदि 'कृति' सार्थकता का कोई भी दावा न करे, यदि 'रचना' और चेतनाविहीन 'घटना' में कोई अन्तर ही न बचा हो, और स्वयं रचयिता को यदि रचना होने के पश्चात् उक्त अनुभूत मानसिकता और 'कृति' में कोई सादृश्य न दिखलाई पड़े, अथवा कलाकार स्वयं कृति में अपने आत्म-समर्पण को न पहचान पाता हो, तभी—केवल तभी उसे अपनी कृति को 'असम्बोधित' कहने का पूरा अधिकार है। इसके पहले यदि वह यह सब नहीं मानता तो उसके ऐसे वक्तव्य मिथ्या अहं के रुग्ण आवेग से अधिक कुछ नहीं हैं।

१३. यदि कोई व्यक्ति ऐसा हो (या ऐसे भोग रहा हो) तो पहले तो वह कभी भी स्वयं नपे-तुले वक्तव्य देने की स्थिति में नहीं होगा और यदि ऐसी मन:स्थिति को कोई व्यक्ति प्राप्त हो चुका हो उसके प्रति मानसिक उपचार की आवश्यकता को साधारण बुद्धि से साधारण जन पहचाने तो किसी को भी क्षुब्ध होने की कम-से-कम कोई सहज युक्ति दिखाई नहीं पड़ती।

१४. इस दृष्टि से यदि आज चलने वाली वहस को सम्प्रेषण-केन्द्रित समझने का प्रयास किया जाए तो इन सारे फ़तवों और तेवरों के पीछे आत्म-प्रचार और लंगी मारकर साहित्य-जैसी चीज़ की तिजारत करने की प्रवृत्ति ही अधिक मिलेगी। बौनी कविता, अकविता—अगीत नया-गीत, अ-कहानी आदि-आदि यदि कुछ कलात्मक सर्जन कर रहे हैं तो उसे मनवाने के लिए 'असम्बोधित' होने की धमकियाँ बच-कानी घुड़कियों से अधिक नहीं लगतीं—"या तो मुझे यहीं अभी, साहित्य-विभूति कहो, पूजो, नहीं तो खुट्टी···हाँ···" क्या समीक्षा द्वारा ऐसी रचनाओं का मूल्यांकन किया जा सकता है ? इस प्रश्न पर मैं कुछ भी कहना, प्रस्तुत कथनों में प्रासंगिक नहीं समझता।

'साधारणीकरण' का द्वन्द्वन्याय

रमेश कुंतल मेघ

मध्यकालीन विश्वदृष्टिकोण में ही स्वयुगीन कला और धर्म, समाज और संस्कृति की कुंजी निहित है। यह दृष्टिकोण आधिभौतिक (मेटाफ़िज़िकल) था। सांख्य दर्शन में एक ओर तो सत्कार्यवाद एवं परिणामवाद के कारण कार्यकारण के भौतिक अक्ष खुलते हैं, तथा दूसरी ओर भूत (मैटर) या त्रिगुणात्मक प्रकृति के कारण द्वन्द्वन्याय की भी झांकी मिलती है। अतः साधारणीकरण के प्रवर्तक भट्टनायक (नवीं या दसवीं शताब्दी) का द्वन्द्वन्याय आधिभौतिक भौतिकवाद (मेटाफ़िज़िकल मैटीरियलिज़्म) का प्रतिभास कथन है। भट्टनायक ने सांख्यदर्शन के प्रतीकों एवं पारिभाषिकों का इस्तेमाल भी किया है।

चक्राक या रेखाक विकास को मानने वाला हमारा मध्यकालीन विश्वदृष्टिकोण देश एवं काल-संभूत विश्व के प्रत्यक्षज्ञान अथवा प्रभा पर विश्वास नहीं रखता। उसके अनुसार इस विश्व का संदर्शन एक अन-देशिक (non-spatial) एवं अन-कालपरक (non-temporal) स्वयं प्रकाश्यज्ञान अथवा प्रज्ञा के द्वारा ही हो सकता है। अतः वह काल की क्रमिकता एवं परिवर्तन के धर्मों के बजाय महाकाल की नित्यता, और शरीर एवं जगत् की अशुद्धि के बजाय आत्मा की शुद्धता की भूमि पर प्रतिष्ठित होता है। अतः यह विश्वदृष्टिकोण अपरिवर्तनशील एवं निर्वैयक्तिक रूपों (फार्म्स) की तलाश करता है। अपरिवर्तनशील रूपों का यह बोध अगर थोड़ा-बहुत परिवर्तन स्वीकार भी करता है तो वह 'विवर्त', 'माया' या 'भ्रम' के बोध से संचालित होता है। यह परिवर्तन ('दोष') किसी गुण के कम होने या बढ़ने का ही कार्यकारणरहित 'उन्मेष' (उपक्रम) देता है। इसके अलावा इस परिवर्तन का कारण भी आधिभौतिक संघटना (फेनामेना) होती है। वह हमारी चेतना पर आरोपित अलौकिक चैतन्य या 'ब्रह्म' हो गया है। यों कार्यकारण परम्परा में हम सत्कार्यवाद—असत्कार्यवाद—स्वभाववाद—विवर्तवाद—अनेकांतवाद आदि भी पाते हैं, किन्तु इनमें से कुछ कार्य एवं कारण का अन्वेषण करते हैं, तो कुछ सत् (यथार्थता) एवं असत् (इल्यूज़न) का। इस तरह मध्यकालीन कार्यकारण न्याय दो पक्षों में बँट जाते हैं।

साधारणीकरण में अपरिवर्तनशील एवं निर्वैयक्तिक रूपों की तलाश हुई है। मूलतः व्यक्तिवाचक संज्ञा को जाति-वाचक संज्ञा या भाववाचक संज्ञा के बोध में बदल देना ही इस खोज का पहला चरण है। साधारणीकरण में विशेषण और क्रियाविशेषण का रूपान्तर नहीं होता। क्रियाएँ और संज्ञाएँ ही विशिष्ट (पर्टीकुलर) से वैश्वक (यूनीवर्सल) हो जाती हैं। यह भाषिकीय रूपांतर नाट्य के माध्यम से होता है। अतः सबसे पहले हम सप्रसंग नाट्य के रूप (फार्म) एवं विषयवस्तु (कांटेंट) का निर्धारण करेंगे।

द्वन्द्वन्याय में ये एक कोटि (केटेगरी) में आते हैं। विषयवस्तुओं के तत्त्वों के व्यवस्थापन (arrangement) की पद्धति ही 'रूप' है जिससे एक ऐसा अन्तर्संगठन कायम होता है जो नाट्य का अस्तित्व कायम रखता है।

विश्व के बाह्य रूप (external form) में एक नाट्य-विश्व का आंतरिक रूप (internal form) गठित होता है। विश्व के देश-अक्ष को हम रंगमंच में, तथा काल-अक्ष को कार्य-व्यापार में विन्यस्त पाते हैं। अतः लौकिक बाह्य जगत्

१. इसके दार्शनिक तथा नैतिक निरूपण के लिए देखें : 'भट्टनायक का सौंदर्यदर्शन : आधुनिक दृष्टि', र० कु० मेघ, "परिषद पत्रिका" (पटना), अप्रैल, १९६६।

से भिन्न एक दूसरा प्रस्तुत जगत् निर्मित होता है। इस जगत् में तात्कालिकता (immediacy) ही सर्वप्रधान है। इस तात्कालिकता के कारण नाट्य का काल (Time) विलक्षण हो जाता है अर्थात् इस काल का प्रवाह तेज होता है (अर्थात् कई वर्षों की घटना कुछ घंटों में समाप्त की जाती है); तथा नियंत्रित भी होता है (अर्थात् नाटककार की इच्छा और कथा के प्रयोजनों के अनुसार ही कार्य-व्यापार घटता है।) इसी तरह इसके देश (Space) का विधान रंग-संग्रह एवं वेशभूषादि द्वारा किया जाता है। अतः नट एक विशिष्ट देश एवं विशिष्ट काल में संकुचित हो जाता है। रंगमंच में मानव-मात्र की सृष्टि (नट द्वारा) होती है और रंगमंच के तीन आयामों वाले अन्तराल में पात्र एवं कार्यव्यापार साक्षात् जीवित रहते हैं। रंगमंच के ये भौतिक स्वगुण (प्रापर्टीज़) हममें एक तनाव पैदा करते हैं: बाहर तीन आयामों वाले लौकिक जगत् (यथार्थता) बनाम रंगमंच में तीन आयामों वाले रचित जगत् (भ्रान्ति या इल्यूज़न) के कारण। फलतः लौकिक जगत् के सामाजिक के एवं नाट्य-जगत् के नट के बीच विलक्षण अन्तर्विरोध (कांट्रेडिक्शन) उत्पन्न होते हैं। यह नाट्य-जगत् हमेशा **वर्तमान काल** में उपस्थित रहता है और रंग-व्यापार **प्रत्यक्ष रूप से हमारे सामने** चलता है। केवल नाट्य ही एक ऐसी कला है जिसकी सृजन-प्रक्रिया का परिपूर्ण चक्र हमारे सामने **प्रकटतया** विकसित होकर समाप्त होता है। इसका परिणाम तादात्म्य (आइडेंटिटी)[१] तथा संघर्ष (स्ट्रगल) के अन्तर्विरोध में मिलता है। एक ही समय में हमारे लौकिक काल एवं नाट्य-काल के बीच सह-अस्तित्व है, एक ही समय में पात्र एवं नट का अन्तर्संधान है तथा एक ही स्थिति में यथार्थता एवं भ्रम का अन्योन्याश्रय है। नाट्य-बोध की स्थिति में इनका सह-अस्तित्व रहता है। किन्तु यहाँ मूर्त तादात्म्य (कांक्रीट आइडेंटिटी) नहीं होता, बल्कि स्व-कल्पित तादात्म्य (फेन्सीड आइडेंटिटी) की स्थिति है। यहाँ स्वकल्पित रूपान्तर ही होता है। मार्क्स ने ऐसे स्वकल्पित तादात्म्य में तथाकथित चिरंतन आकर्षण (अर्थात् 'लोकोत्तराह्लाद') की चर्चा भी की है (दे० "ऑन कांट्रेडिक्शन", पृ० ६१, १९५२)। यह तादात्म्य हमेशा अस्थायी, क्षणिक, सापेक्ष्य और शर्तों से बँधा होता है। इस तादात्म्य में उक्त विपरीतों की ऐसी ही एकता होती है। अतः पात्र में नट का अन्तर्विलयन और नट में पात्र-रूपता का समावेश रहता है। इसी नाट्य-भूमि पर भट्टनायक तादात्म्य का सामना करते हैं।

स्वकल्पित तादात्म्य के साथ संघर्ष (स्ट्रगल) की कोटि आती है। यहाँ नट एवं पात्र के बीच अविरोधी (non-antagonistic) अन्तर्विरोध रहता है जिसे चेतनता की विशिष्ट अवस्थिति में, साधारणीकरण के द्वारा, सुलझाया जाता है। नाट्यसृष्टि का चरित्र सामाजिक होता है, किन्तु रसास्वाद का चरित्र वैयक्तिक। अतः नट एवं सहृदय के बीच भी अन्तर्विरोध उपस्थित होता है। नाट्य में संघर्ष की कोटि कार्यव्यापार से गुँथी होती है। सहृदय अपेक्षाकृत विश्रांत (rest) स्थिति में होता है, तथा नट प्रत्यक्ष अनुकरणात्मक परिवर्तन (change) में लिप्त रहता है। सहृदय इस गतिशील परिवर्तन का अपनी चेतना में आयत्तीकरण करता है। किन्तु इस आयत्तीकरण में विरोधत्व (antagonism) है। यह आयत्तीकरण कार्य के बजाय उसके भावकत्व द्वारा होता है। इस विरोधत्वपूर्ण संघर्ष (ऐंटागोनिस्टिक स्ट्रगल) में नट का अस्तित्व तो शेष रहता है लेकिन वह निर्वासित (alienate) होकर उसका सारतत्त्व (ऐसेंश) विशिष्ट के बजाय वैश्वक हो जाता है। अतः नट के निर्वासन (alienation) का संघर्ष पात्र एवं सामाजिक के बीच होता है। पात्र पृष्ठभूमि में रहकर भी पुनः अपने वैश्वक एवं अमूर्त आद्यबिंब के साथ आच्छादन करता है। तथापि मूल केन्द्र नट होता है। अतः साधारणीकरण में 'नट' का प्रश्न ही उभर आता है। किन्तु नट कारण (Cause) के अलावा उपचार (pretex) भी हो जाता है। किंवा भट्टनायक ने उसे ऐसा ही बनाने का इरादा किया है।

विशिष्ट (पर्टीकुलर) नट को किस तरह अमूर्त भाव रूप में रूपान्तरित किया जाए? भट्टनायक के पास नाट्य-माध्यम की कुछ सम्भावनाएँ हैं। नाट्य-माध्यम तो प्रत्यक्ष पर आश्रित है और इसका केन्द्र 'ज्ञान' है। भरत से लेकर श्री शंकुक तक इस समस्या को 'ज्ञान' के वृत्त में सुलझाते रहे। नाट्य में वृत्ति, धर्मी, प्रवृत्ति, रंगसंग्रह, गान एवं संगीतादि देश एवं काल की विशिष्टता को उभारते हैं। नट और अनुकरण (अभिनय), तथा रंगमंच और नाट्य-कौशल की उप-

१. इस पूरे लेख में 'तादात्य' का तात्पर्य अद्वय अवस्था न होकर एक तत्त्व का दूसरे विरोधी तत्त्व में तथा दूसरे तत्त्व का पहले विरोधी तत्त्व में सह-अस्तित्व एवं अन्तराश्रय है। यह बात ध्यातव्य है।

स्थिति में यह सम्भव नहीं है कि हम एक परिपूर्ण (Total) वैश्वक (यूनिवर्सल) कोटि प्राप्त कर लें। नट के भी तो अपने मुद्रात्मक प्रयोजन (जेस्चरल मोटिफ) तथा वेशभूषा-परक बिंब होते हैं। अतः ये पूर्ववत् विशिष्ट बने रहते हैं। ये विलक्षण ही रहते हैं, 'साधारण' नहीं। भट्टनायक ने पहले तो 'ज्ञान' का केन्द्र छोड़ा; फिर शब्द एवं रूप की इकाई खंडित की; फिर रूप को छोड़कर अधिकांशरूपेण शब्द को ही ग्रहण किया; और, अन्ततः, ज्ञान के बजाय 'भाव' को केन्द्र में प्रतिष्ठित कर दिया। मानो यह "जानबूझकर-ज्ञान-का-स्थगन" है। केवल शब्दार्थ को आमूल आधार बनाकर ही वे साधारणीकरण की प्रक्रिया निवेदित कर पाये। लेकिन 'रूप' [स्टेज, वेशभूषा, नट] के साक्षात् उपस्थित रहने पर यह अन्तर्विरोध तब भी नहीं सुलझ पाया। 'शब्द' के साथ-साथ 'रूप' को भी लेने पर यह प्रश्न सुलझ सकता था। ऐसा क्यों हुआ ? नाट्य की गति (motion) के रूप में जो विशिष्ट अन्तर्विरोध हैं उन्हें भट्टनायक नहीं समझ सके। वे केवल श्रव्य तत्त्वों का भावन करा सके, और न चाहकर भी क्रमशः दृश्य तत्त्वों को छोड़ते गए। इसी तरह वे नट बनाम पात्र के द्वैत को सुलझाने से भी भागते रहे, जबकि श्रीशंकुक के लिए यही जबर्दस्त चुनौती थी।

इस नई परिस्थिति को समझने के लिए हमें पुनः नाट्य-रूप का अन्वेषण करना होगा; और इसके बाद हम पुनः विशिष्ट (पर्टीकुलर) बनाम वैश्वक (यूनिवर्सल) के सवाल को उठाएँगे।

भट्टनायक के पहले समाज-रूप-रंगमंच (Stage-as-Society) था। भट्टनायक ने सामाजिक-रूप-रंगमंच (Spectator-as-Society) का आहरण किया। बर्तोल्त ब्रेख़्त को भी अपने कुछ नाट्यों के रूपत्व में परिवर्तन करते वक्त ऐसे ही कुछ अन्तर्विरोधों का सामना करना पड़ा था। सामाजिक के और समाज के दर्पण में परिवर्तन होने पर हमेशा आस्था (faith) तथा विचारधारा (ideology) के तनाव आते हैं। भट्टनायक को भी नैतिक आस्था और अद्वैत-वादी विचारधारा के तनाव झेलने पड़े थे। वस्तुतः इन्हीं दोनों सामाजिक तनावों का परिणाम ही साधारणीकरण की धारणा का उन्मेष है। रंगमंच के पहले पक्ष का हम निरूपण कर चुके हैं जिसके अन्तर्गत नट, वैयक्तिक तादात्म्य तथा संघर्ष आते हैं। दूसरे पक्ष में नाट्य दो स्तरों की भ्रान्ति को प्रतिबिम्बित करता है। इसका निरूपण भी हम कर चुके हैं। स्तर के दुहरेपन के कारण आंशिक अनुभव रंगमंच में तथा शेष सहृदय में बँट जाता है; और सहृदय रंगमंच के दर्पण के 'परे' या 'पीछे' भी संक्रमण करता है। इस संक्रमण में वह अपने अन्तर्लोक में पहुँचता है जहाँ नट की तरह बिना सहकर्मी (non-participant) बने हुए भी वह (सहृदय-साक्ष्य) आनन्दबोध से प्रभावित होता है। यह संक्रमण नाट्य की गति का ही एक विलक्षण रूप है क्योंकि दृश्यविधान और आंगिक-वाचिक-आहार्य अभिनय उसमें एक मनस्तात्त्विक दूरी (psychical distance) उत्पन्न कर देते हैं। इसके अलावा रंगमंच की यथार्थता समाज में संस्थित न होकर दर्शक में संस्थित होती है। रंगमंच की इस यथार्थता को वह आस्था (faith), या हठात् विश्वास (make-belief), या दोनों के द्वारा स्वीकार करता है। अतः वह पहले बाह्य जगत् का निषेधा-यन (negation) करके नाट्य-जगत् को प्राप्त करता है, और [साधारणीकरण के द्वारा] नाट्य-जगत् का निषेधायन करके अपने अन्तर्जगत् का विपुल विकास करता है। सम्पूर्ण नाट्य-सृष्टि में भी इसी तरह मूल चरित्र, नाटकीय पात्र और नट क्रमशः निषेधित होकर मानव-चरित्र की वैश्वक कोटि प्राप्त करते हैं। भट्टनायक आन्तरिक अन्तर्विरोध (internal contradiction) का निराकरण तो थोड़ा-बहुत कर देते हैं किन्तु रंगमंच और नट के बहिर्गत अन्तर्विरोधों (external contradictions) को नहीं सुलझा पाते। इस बात को हम पहले भी दूसरे ढंग से कह चुके हैं। सहृदय-रूप-रंगमंच को लेने के कारण वे नट एवं पात्र का तादात्म्य कर देते हैं। रंगमंच में नट का अधिनायकत्व होता है। अतः उसमें परिवर्तन की आन्तरिक कल्पना करके ही भट्टनायक गुणात्मक परिवर्तन कर डालते हैं : दृश्य (अभिधा) को भाव (भावना) में बदलकर। मात्रा का गुण में यह रूपान्तर एक छलांग (leap) द्वारा होता है। इस रूपान्तर में प्रत्यक्ष के बजाय भावरूप ऐंद्रियिक तथ्यांक (Sense-data) पर आग्रह हो जाता है। यहाँ उनकी विचारधारा भी सक्रिय है क्योंकि सांख्यदर्शन में गुण अनुभूतिपरक है, जबकि ध्वनिकार उन्हें धर्मरूप मानते हैं। अतः भावकत्व की अतिरिक्त विलक्षण-ताओं का कारण 'गुण' हैं। अतः प्रत्यक्ष का स्थान भाव-बिंब ले लेता है।

रूपान्तर को विशिष्ट-वैश्वक इसकी कोटि के अन्तर्विरोध

के द्वारा कुछ अधिक समझा जा सकता है। एक प्रमेय (object) के अन्तर्गत ये दोनों पक्ष उपस्थित होते हैं और इनमें अन्तस्सम्बन्ध भी होते हैं। विशिष्ट वैश्वक हो जाता है तथा वैश्वक विशिष्ट। किन्तु इस परिवर्तन में अन्य बाह्य-तत्त्वों के भी सम्बन्ध जुड़े होते हैं; जैसे, संवाद की भाषा में दोष, गुण, अलंकार और अभिनय में वेशभूषा, दृश्यविधान आदि की बहिर्मुखी भूमिका होती है। ये बाह्य तत्त्व हमारी चेतना में मनस्तात्विक दूरी (psychical distance) उत्पन्न करते हैं। ये विशिष्ट स्थिति (Specific circumstance) की तरह हैं। नट और भाव-सम्बन्धों का विशिष्ट ज्ञान प्रसारित होते हुए मनुष्य तथा अमूर्त भावों का वैश्वक ज्ञान भी बन सकता है अगर प्रमाता एक जैसे कई प्रमेयों के विशिष्ट गुणों का ज्ञान प्राप्त कर चुका है। साधारणीकरण की स्थिति में प्रमाता विशिष्ट से सामान्य का ज्ञान प्राप्त करता है तथा अप्रत्यक्ष नाटककार सामान्य से विशिष्ट का। प्रमेय के मानवीय सामान्य गुणों का ज्ञान उसके विशिष्ट गुणों के ज्ञान के बिना नहीं हो सकता, क्योंकि नाट्य की उत्पादक शक्तियाँ मानवीय विभावानुभावादि हैं और उनका प्रभाव रस है, अतः विशिष्ट ज्ञान सामान्य की ओर अग्रसर हो सकता है। हम इस वस्तु को कई वस्तुओं से अन्तस्सम्बन्धित करके यह सामान्य ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं। क्योंकि नाट्य के रस-चक्र में भाव एवं स्थायीभाव का चक्राक क्रम मूलवासना की निरपेक्षता में परिणत होता है, अतः राम 'मानवत्व' में, और राम-सीता की रति 'कान्ताभाव' में रूपान्तरित हो सकती है। साधारणीकरण में विभावादि सामान्य हो जाते हैं अर्थात् आलम्बन अपने व्यक्तिगत धर्म को छोड़कर सामान्य धर्म के रूप में साधारण धर्म के साथ उपस्थित होता है।

साधारणीकरण अहं (I) की दशा न होकर माम् (me) की दशा है। इसी वजह से सामाजिक पर भावन होता है। एक प्रकार से अगर **भावकत्व** आलम्बन का सम्बन्धात्मक साधारणीकरण है; तो अगले चरण में, **भोगकृत्व** सामाजिक का गुणात्मक साधारणीकरण। वस्तुतः साधारणीकरण में प्रमेय या वस्तु के प्रति उद्‌बुद्ध होने का धर्म परिपूर्ण होता है जिससे द्रव्यरूपता तो नहीं, किन्तु संवेदनशीलता (इन्द्रियों का गुण) तीव्र रहती है। त्रिगुणात्मक सांख्य के अनुसार 'यह राम है' का ज्ञान भावना द्वारा 'यह वह है' में परिणत होता है। अतः भाव के उपर्युक्त 'स्वकल्पित तादात्म्य' वाले व्यापार को ही 'भावकत्व' की संज्ञा दी गई है। इस भावकत्व के दो परिणाम निकलते हैं : (i) अब शकुन्तला न तो मूल पात्र है, न ही रंगमंच की अभिनायिका। अब वह 'कान्तामात्र' है। इससे विभाव (कारण) की समस्या नहीं उठती और 'ताटस्थ्य'-दोष (अर्थात् कारण-कार्य का द्वैत) दूर हो जाता है। (ii) अब शकुन्तला का स्थायीभाव कान्ता-जाति का स्थायीभाव हो जाता है—अर्थात् निजत्व बोध नहीं रहता। इस तरह आत्मगत दोष दूर हो जाता है। फलतः भावकत्व का प्रयोजन ताटस्थ्य एवं आत्मगत दोषों को नहीं उठने देना ही है। यहाँ भट्टनायक ने जिस सूक्ष्म बिन्दु को पकड़ा है वह विभावादि तक का साधारणीकरण है। भरत से श्रीशंकुक तक विभावादि विशिष्ट (पर्टीकुलर) तथा स्थायीभाव वैश्वक (यूनिवर्सल) रहते थे, किन्तु उन्होंने भावकत्व के साधारणीकरण व्यापार द्वारा सभी को वैश्वक शृंखला में पुह दिया। स्पष्ट है कि इसका परिणाम नट और पात्र के द्वैत को भुलाने में निकला। फिर तो नाट्यमाध्यम का भी अतिक्रमण किया गया, क्योंकि श्रीशंकुक कृत्रिम विभावादि का अनुकरण मानते थे, लेकिन भट्टनायक ने साधारणीकरणात्मना विभावादि का **भावन** प्रतिपादित किया। (अतः सामाजिक एवं नट के बीच के निज मोह-संकट का निवारण हुआ; और सामाजिक की लोक एवं नाट्य दशा के बीच रजोगुण की समाप्ति एवं सत्त्वगुण का उदय हुआ।) इस तरह यह सम्पूर्ण ढाँचा नाट्यविशिष्टता और नट-विशिष्टता का अतिक्रमण करने की ओर अग्रसर होता है। किन्तु विशिष्ट-वैश्वक का यह अन्तर्विरोध एक नया विरोध (antagonism) प्रस्तुत करता है जिसकी ओर शायद अभी तक ध्यान नहीं दिया गया। कहा जाता है कि साधारणीकरण हमें 'शकुन्तलात्व-विशिष्ट' से 'कान्तात्व-सामान्य' की भूमि पर ले आता है। किन्तु तब चरित्र-चित्रण की क्या महत्ता रही? अगर हम नट के अभिनय को केवल कौशल में ही बाँधकर छुट्टी पाने का उपक्रम करें तो पात्र के **चरित्र** की विशिष्टता कहाँ जायेगी? अतएव 'कान्तात्व-सामान्य' के बजाय द्वंद्वात्मक 'कान्तात्व-विशिष्ट' ही होना चाहिए। हम तो यही पाते हैं कि एक ओर तो रंगसंग्रह एवं चतुर्विध अभिनय के क्षेत्र में साधारणीकरण केवल अंशरूपेण (शब्द के सन्दर्भ में) लागू हुआ है तथा दूसरी ओर सामान्यत्वपूर्ण-वैशिष्ट्य (universalized particular) की भी उपेक्षा हुई है। अतः

निषेधायन के द्वंद्वन्याय और विशिष्ट-सामान्य की कोटि के आधार पर साधारणीकरण की यही तस्वीर प्रकट होती है जिसमें त्रुटियों का कारण आधिभौतिक विश्वदृष्टिकोण है।

अन्त में एक बात शेष रहती है। साधारणीकरण की अनिवार्यता का उद्गम नाट्य-यथार्थता की अपेक्षा एक नैतिक समस्या है। इस दृष्टि से हम सामाजिक अमल (Social practice) के पहलू को बखूबी समझ सकते हैं।

साधारणीकरण की धारणा मिथक (Myth) और जादू (Magic) के परिवृत्त में उद्‌भूत हुई। सीता और पार्वती जैसी दिव्य एवं पूज्य अर्थात् मिथकीय कान्ताओं के प्रति सामाजिक में सहज रतिभाव, तथा हनुमान जैसे देवता के अतिमानवीय एवं अलौकिक अर्थात् जादुई कार्यों के प्रति आश्चर्य को वे नाट्य की किसी भी सम्भावना (possibility) से नहीं जोड़ सके। उनके लिए, और उनके युग के लिए, उक्त दोनों स्थितियाँ यथार्थ, सत्य और पुनीत थीं। यही नहीं, उनके साथ धार्मिक नैतिकता जुड़ी थी। हम भली-भाँति जानते हैं कि मध्यकालीन समाज में मिथक और जादू तथा धर्म अन्तस्सम्बन्धित थे। इनका सम्बन्ध कर्मकाण्ड (ritual), आस्था (faith) और नैतिकता (morality) से था। मिथकीय प्रत्यक्षीकरण में हमेशा भावावेग रहता है। मिथक और जादू के मॉडल प्रकृति न होकर समाज हैं। अतः हनुमान के अतिप्राकृतिक कार्यों में सुरक्षा, स्वतंत्रता तथा प्रकृति-विजय का बोध निहित हुआ; और शिव या राम की रति में दिव्यपवित्रता की मर्यादा निवेदित हुई। अतः एक ओर नैतिक आदर्शों को तथा दूसरी ओर अन्धविश्वासों को नाट्यचक्र में समन्वित करने की समस्या उठी। यह समस्या इसलिए जटिल हुई कि यहाँ स्वयं पात्र देवी-देवता हो गये। अन्यथा मानवीय पात्रों को लेकर पुण्य कर्म, त्रिवर्ग सिद्धि, सन्धि-प्रकृति-व्यापारपंचकों के द्वारा नाट्य के रचनागठन (structure) को भी मध्यकालीन विश्वदृष्टिकोण में ढाला ही जा चुका था। नये सामाजिक व्यवहार या अमल ने सिद्धान्त के सामने एक बदला हुआ सामाजिक दर्पण रखा। न तो नाटक में दिव्य पात्रों को वर्जित किया जा सकता था, और न ही सामाजिक को रसास्वाद अर्थात् स्थायीभावरति या आश्चर्य के बोध से वंचित किया जा सकता था। नैतिक अनौचित्य नाट्य-संसार में अनुचित नहीं था क्योंकि मिथक का ही अभिनय हो रहा था। यहाँ नट के पुनीत होने की बात मानी जा सकती थी (पात्र तो पुनीत थे ही)। तब तक समाज में नट का पेशा पुरोहित के यज्ञ की तरह पुनीत नहीं रह गया था। अतः या तो मिथकीय पात्र मनुष्य बनें, या फिर सामाजिक साधक बनें। सामाजिक के साधक बनने का भी सामाजिक वातावरण नहीं था क्योंकि भट्टनायक ब्रह्मकारणवादी के बजाय सत्कार्यवादी थे। अतः एक ही रास्ता खुला : मिथकीय पात्रों को मानवीय बनाओ और सहृदयों को शुद्ध करो (अर्थात् उनके मोह एवं संकट का निवारण कराओ)। फलतः आलम्बन से उसके व्यक्तिगत धर्म छुड़वा दिये गए। अतएव अब मिथकीय पात्रों एवं जादुई घटनाओं का चरित्र उदात्तीकृत सामाजिक और सामान्य हो गया; तथा रसास्वाद के व्यक्तिगत चरित्र का भी निवारण हो गया। सामाजिक व्यवहार की आवश्यकता ने सौन्दर्यतात्त्विक स्थिति का यह नया आयाम सहसा ही खोल दिया। और, इस नये मुक्ति-धर्म आयाम का नामकरण 'साधारणीकरण' किया गया। जैसा कि हम पहले कह चुके हैं कि इस प्रक्रिया में निषेधायन (निगेशंस) हुए। पात्र और नट, नट और सामाजिक तक यह प्रक्रिया चली। अन्ततः स्वकल्पित तादात्म्य (fancied identity) कायम हुआ; तथा विशिष्ट-वैश्वक के अन्तर्विरोध का भी निराकरण हो गया। ●

पहले ये, बस, फैलाव

कान्ता

पहले ये, बस, फैलाव—
उदास—उदास—फैलाव—
और दबा-दबा-सा गुलाबीपन;
दूसरे :
सुर्ख सिकुड़न-गुंथा
बेताब फैलाव—
अजीब
रंगों का समूह—
और समूह में एक रंग,
और उस एक रंग में
बे-रंग;
दो आकाश : दरारों वाले :
धूप और अंधेरे के लिए आतुर।
किन्तु न धूप
सिमट कर फैली,
न फैल कर गाढ़ हुआ
अँधेरा—
बस, आकाश
खो बैठा
अपनी नीलम सहजता :
मैं जीती रही थी
अब तलक
दोहरा संसार !!

फिर उसी उदास फैलाव के लिए,
अनजाने
चले पाँव
कभी धूप के पीछे-पीछे,
कभी
अँधेरे के समानान्तर।
सलवटें पड़ी रहीं, फिर भी।
आती रही
सिर्फ़, एक अंतः गंध
दूर से :
पाटने की दरारें·····

कशमकश में यों, खो गये
दोनों भी संसार
आधे-आधे।
और उन्हें जीती हुई मैं
पूरने की कोशिश में।
भीतर : सब तीतर-बीतर :
बे-मौसम ओलों में, यकायक, जैसे,
अपना मौसम पा गया
पतझार
धरती पर बिछता, छा गया
आकाश तक—
मोहक
रेतिल पीलेपन में।
और समूचा पतझार भी नहीं।
झूठ गया
दूसरे में ज्यादा
पहला संसार—

पटीं नहीं दरारें,
और हो गयीं सपाट—

बूंद-बूंद झरी
उनकी सीली, घुटती हवा में
अन्तःगंध :

मैंने समझा,
मृत्यु ने दिया छू
यातना भोगते सत्य को समर्पित होता
वह दूसरा संसार।

हर बार, मगर,
एक-न-एक धुंधला छोड़ निशान
तमाम मेरी कोशिशें करता रहा
नाकाम

वह
आधे से आधे का आधा भाग—
अपनी-अपनी दरारों के साथ, महज,
थोड़ा-सा अलग-अलग लगे दीखने
दो आकाश—

अब
सब तरफ पानी,
और पानी में सिर्फ़ धूप,
या, सिर्फ अँधेरा;
कोई एक अकेली नीलम सहजता नहीं,
बस सकें जहाँ
दोनों भी
साथ-साथ—

मैं कसे रही गंध
फिर भी—

थोड़ा-सा अलग-अलग दो आकाश
पहले खिंचे
अनझिल लिये आतुरताएँ,
फिर डूबे
पानी में :

तैरता उभरा
आधे से कुछ ज्यादा
एक नयी पीड़ा को धारे हुए सिकुड़न
अपने फैलाव में

मेरा पहला संसार—
दूसरे को जिलाता हुआ
बार-बार—

किन्तु निस्सीम समय।
—यों ही क्षण-क्षण
दूसरे को देते जीवन,
स्वयं छूते मृत्यु—
अब अपने प्रति प्रतिबद्धता में—
पूर जाएगा पहला संसार
किसी दिन
(शायद, मेरे बाद।)

एक नया संसार होकर—
बस, उदास-उदास फैलाव में
गुलाबीपन की दाब सहेजता
एक मिल जाएगा नीलापन और
ताजा राख का—

नैतिक मूल्य

यशदेव शल्य

नीति की न्यूनतम परिभाषा 'कर्त्तव्याकर्त्तव्य का क्षेत्र' यह दी जा सकती है और 'कर्त्तव्य' का अर्थ 'उचित कर्म' किया जा सकता है। 'कर्म' के अन्तर्गत शारीरिक के अतिरिक्त मानसिक का भी समावेश किया जा सकता है—मनसा, वाचा, कर्मणा शुभ करने का उपदेश बहुत पुराना है। अपने इस न्यूनतम रूप में यह परिभाषा निर्विवाद रूप से स्वीकृत हो सकती है, यद्यपि कुछ लोग इसमें 'मानसिक' का, 'भाव-विचार' का, समावेश नहीं करना चाहेंगे। इस परिभाषा की कठिनाइयाँ उस समय उत्पन्न होती हैं जब हम 'उचित' और 'कर्म' शब्दों के अर्थों पर विचार करना आरम्भ करते हैं। किन्तु तब भी कुछ दूर तक इनके अर्थों की व्याख्या में बिना विवाद के आगे बढ़ा जा सकता है—ज्ञात प्राणियों में केवल मनुष्य के व्यवहार या क्रियाओं को ही 'कर्म' कहा जा सकता है, अन्य किसी प्राणी की क्रिया को 'कर्म' नहीं कहा जा सकता, और 'उचित' या 'अनुचित' विशेषण केवल 'कर्म' के साथ ही प्रयुक्त हो सकते हैं, अन्य क्रियाओं या व्यवहारों के साथ नहीं। इस बात में भी सब सहमत होंगे कि मानव की सब क्रियाएँ 'कर्म' नहीं होतीं और परिणामतः वे 'उचित-अनुचित' भी नहीं होतीं।

परिभाषा की यह सहमति इससे तनिक भी आगे नहीं जाती, यहाँ तक कि इस बारे में भी सहमति नहीं है कि क्रियाओं का क्या गुण उन्हें 'कर्म' बनाता है। वास्तव में जितनी सहमति हमने देखी है उतनी भी प्रकट रूप से ही है, वास्तव नहीं है, क्योंकि 'उचित' और 'कर्म' की अधिकांश अर्थापत्तियाँ 'कर्म' को 'क्रिया' से भिन्न नहीं करतीं। तो भी संभवतः प्रकट स्तर पर सब यह स्वीकार करेंगे कि "साभिप्राय घटित क्रिया कर्म है," जहाँ 'साभिप्राय' का अर्थ है ज्ञान और प्रयोजन के साथ। इस परिभाषा की कुछ कठिनाइयाँ हैं जिन पर हम आगे विचार करेंगे, किन्तु तब भी इस परिभाषा को स्वीकार किया जा सकता है। यह परिभाषा पाशव क्रियाओं तथा मनुष्य की अनेक क्रियाओं को 'कर्म' के वाच्य क्षेत्र से निकाल देती है। किन्तु 'ज्ञान और प्रयोजन' पद को जिस अर्थ में सामान्यतः स्वीकार किया जाएगा, हम यहाँ उस अर्थ में इसका प्रयोग नहीं कर रहे हैं। सामान्यतः इसका अर्थ होगा, क्रिया के लक्ष्य का ज्ञान और लक्ष्य-सिद्धि के साधनों का ज्ञान आदि। किन्तु, जैसा कि हम आगे देखेंगे, यह गुण क्रिया को पर्याप्त रूप से कर्म का स्तर नहीं देता। इसलिए 'ज्ञान' से हमारा अर्थ यहाँ 'क्रिया का कर्ता होने के बोध' से है।

इस प्रकार से 'मानव कर्म करता है' का अर्थ है कि वह अपनी क्रियाओं का साक्षी होता है। क्रिया का यह साक्षित्व—कर्तृत्वाभिमान—उसे कर्ता के पद पर प्रतिष्ठित करता है, उसे "क्रिया के साधन मात्र" से "क्रिया के लिए उत्तरदायी" बनाता है।

एक अर्थ में 'उत्तरदायित्व' शब्द भ्रामक हो सकता है। 'उत्तरदायी' का अर्थ हो सकता है पुरस्कार और दण्ड का अधिकारी। किन्तु यह अर्थ सही नहीं है क्योंकि दण्ड और पुरस्कार, प्रस्तुत अर्थ में कर्त्ता को कर्त्ता से इतर कोई देता है। इस अर्थ की पुष्टि सामाजिक दण्ड-नियमों अथवा प्रशंसा-निन्दा से भी मिलती है, जिनका पात्र केवल कर्त्ता अथवा उत्तरदायी को ही समझा जाता है, अबोध को नहीं, कर्मवाद की भी कुछ व्याख्याओं में यही धारणा निहित है। किन्तु वास्तव में यह सही नहीं है, क्योंकि उत्तरदायित्व केवल अपनी क्रियाओं के साक्षित्व से ही आता है, क्रिया का यह साक्षित्व कर्त्ता से अपने को व्याख्यायित करने की माँग करता है, जिस व्याख्या के सन्दर्भ में निरूपित होकर कर्म 'उचित' के विशेषण

से मंडित होता है और उससे भ्रष्ट होकर 'अनुचित' के विशेषण से। सामाजिक या दैविक दण्ड और पुरस्कार कर्तृत्वाभिमान (मैं कर्त्ता हूँ) के अर्थ-बोध से उत्पन्न उत्तरदायित्व के एक प्रकार से विपरीतार्थक हैं, क्योंकि ये व्यक्ति पर बाहर से उत्तरदायित्व लादते हैं, जैसे मानिये ढोर के खेत में जा घुसने पर उसे डंडा मारा जाता है। किन्तु इसे एक दूसरे अर्थ में भी समझा जा सकता है—व्यक्ति जबकि इस अर्थ-बोध में समर्थ है, वह प्रायः ही या तो इस ओर देखता ही नहीं, अथवा देखकर उसका अर्थ समझने में असमर्थ रहता है, अथवा अर्थ जानकर भी उसमें प्रवृत्त नहीं होता, उस अवस्था में उससे अधिक अनुभवी, अधिक विज्ञ सामाजिक अतिव्यक्ति अपने इस बोध का आरोपण उस पर करता है। इस प्रकार से यद्यपि सामाजिक पुरस्कार और दण्ड कर्तृत्वाभिमान की वैयक्तिक चेतना की असामर्थ्य को पूर्वकल्पित करते हैं किन्तु स्वयं ये इसी अर्थ-बोध के परिणाम होते हैं। ये सामाजिक पुरस्कार और दण्ड भी इस अर्थ में सामाजिक नहीं होते कि ये सामाजिक सम्बन्धों के निर्देशक होते हैं, क्योंकि ये अत्यन्त निभृत वैयक्तिक आदर्शों और मूल्यों के भी पुरस्कारक होते हैं; ये इस अर्थ में सामाजिक होते हैं कि इनका अधिष्ठान सांस्कृतिक कर्तृत्वाभिमान में होता है।

'कर्म' के इस अर्थ में, 'औचित्य-अनौचित्य' उसके अर्थ के घटक हैं, अर्थात् कोई कर्म ऐसा नहीं हो सकता जो उचित या अनुचित नहीं हो; अथवा कहें, जिस क्रिया को उचित या अनुचित नहीं कहा जा सकता उसे कर्म नहीं कहा जा सकता।

इस दृष्टि से 'उचित' और 'अनुचित' शब्द 'सत्य' और 'असत्य' के समान हैं जो ज्ञान-विषयों के अर्थ-घटक होते हैं। विषयों का सत्यासत्यत्व एक निश्चित कसौटी पर पूरा उतरने में है। इस प्रकार से कसौटी या प्रतिमान प्रकट रूप से विषय-बाह्य होते हैं। किन्तु वास्तव में कसौटियाँ या प्रतिमान विषय-बाह्य नहीं होते, विषय अपनी उत्पत्ति के साथ ही अपने सत्यासत्यत्व की कसौटी को भी जन्म देता है। उदाहरणतः 'यह मेज़ है' ज्ञानात्मक निर्णय है और मेज़ इसमें विषय है, अब यह निर्णय सत्य है यदि यह प्रस्तुत 'मेज़ होने' की कसौटी को सन्तुष्ट करता है। यह कसौटी मेज़ के विषय-बोध की घटक है, उससे पृथक् नहीं है। यदि इस कसौटी को बदल दिया जाय तब इस विषय का स्वरूप भी बदल जाएगा। उदाहरणतः वैज्ञानिक कसौटी और पौराणिक कसौटी भिन्न-भिन्न होती हैं और परिणामतः उनके विषय भी भिन्न-भिन्न होते हैं। (जैसा कि 'पौराणिक मनोवृत्ति' और 'प्राकृतिक विज्ञान' अध्यायों में निरूपित विषयों के स्वरूप से देखा जा सकता है।)

इसी प्रकार से कर्मों के लिए भी—कर्मों के औचित्य-अनौचित्य की कसौटी इस अर्थ में प्रत्येक कर्म से बाह्य होती है कि प्रत्येक कर्म को उस कसौटी को सन्तुष्ट करना होता है, किन्तु तब भी वह उसकी घटक होती है, क्योंकि कर्म ही इस कसौटी को जन्म देता है और कसौटी-भेद के साथ कर्म में स्वरूप-भेद हो जाता है। उदाहरणतः 'चौर कर्म' अथवा 'असत्य-भाषण' के अनौचित्य की कसौटी 'लोभ' अथवा 'कामुक वृत्ति' के अनौचित्य से भिन्न है, प्रथम में कर्ता अपने को अन्य कर्ताओं के बीच पाता है जबकि दूसरे में कर्ता का कर्म अन्य कर्ताओं को प्रभावित नहीं करता, जब तक कि यह कर्म मानसिक स्तर तक ही रहता है। संभवतः यह कहा जाए कि कोई ऐसा कर्म नहीं है जो अन्यों को प्रभावित नहीं करता। यदि कोई ऐसा कहता है तो वह 'प्रभाव' शब्द का प्रयोग अत्यन्त व्यापक अर्थ में कर रहा है, उसके अनुसार यदि मैं एकान्त वन में रहता हूँ तो भी मेरे विचार मेरे व्यक्तित्व को प्रभावित करेंगे और मेरा व्यक्तित्व विश्व की समग्रता में एक अंश होने के कारण विश्व की समग्रता को प्रभावित करेगा। 'प्रभाव' का यह अर्थ यहाँ अप्रासंगिक है, क्योंकि एक तो यह केवल कर्म की ही विशेषता नहीं है और दूसरे, कर्ता अपने ऐसे कर्मों के औचित्य को अन्य कर्ताओं के परिप्रेक्ष्य में नहीं आँकता। यदि मैं अत्यन्त भीरुता के कारण अपने लोभ को कभी चौर-कर्म में परिणत नहीं कर पाता, अथवा यदि मैं अपने धन से निरन्तर अपनी जिह्वा को सन्तुष्ट करने में प्रवृत्त रहता हूँ, तो कम-से-कम कुछ अवस्थाओं में, मेरे कर्म के औचित्य की कसौटी अन्य कर्ताओं के मध्य मेरे कर्तृत्व से निर्धारित नहीं होती, किन्तु तब भी ये कर्म 'उचित' अथवा 'अनुचित' होते हैं।

कुछ कर्म ऐसे होते हैं जो 'औचित्य' या 'अनौचित्य' के सन्दर्भ में घटित हो भी सकते हैं और नहीं भी हो सकते। उदाहरणतः मेरा कला-कर्म उचित है, किन्तु यह कुशल या अकुशल भी है। कर्म की ये दो अत्यन्त भिन्न प्रकार की कसौटियाँ हैं और परिणामतः 'एक' कला-कर्म अत्यन्त भिन्न दो विषयों के रूप में रचित होता है। 'उचित'-'अनुचित' केवल कर्तृत्वाभिमान का प्रसंग है, अर्थात् क्रिया के कर्ता के अर्थ-बोध के प्रतिमान पर परखे जाने का।

'कर्तृत्वाभिमान' या 'कर्ता का अर्थ-बोध' पद का अर्थ 'नैतिक मूल्य' और 'उचित' के स्वरूप को समझने के लिए आधारभूत है। सब क्रियाएँ लक्ष्य-परक होती हैं, अर्थात् इनका जन्म अपेक्षामूलक होता है और उस अपेक्षा के सन्तोषजनक विषय अथवा वस्तु अथवा अवस्था की प्राप्ति के साथ क्रिया पर्यवसित हो जाती है। लक्ष्यपरकता ही 'क्रिया' को 'घटना' से अलग करती है। इस लक्ष्यपरकता में कोई चेतनता या लक्ष्य का विचार होना आवश्यक नहीं है, निद्रित अवस्था में खुजलाना तक एक क्रिया है। कुत्ते का रोटी की खोज में इधर-उधर घूमना भी क्रिया ही है और एक प्रकार से निद्रा में खुजलाने और भूख लगने पर भोजन खोजने में कोई मौलिक अन्तर नहीं है, क्योंकि भूख और खुजली दोनों स्वतोजात अपेक्षाएँ हैं और ये दोनों अपने सन्तोष के लिए चेतनता की अपेक्षा नहीं करतीं। वास्तव में यह कहना कठिन है कि कुत्ता भोजन खोजते हुए उस अवस्था से कुछ मूलतः भिन्न अवस्था में होता है जिसमें कि वह निद्रा में खुजलाते हुए होता है। इनमें यह तारतम्य शरीर-वैज्ञानिक दृष्टि से ही नहीं है बल्कि मनोवैज्ञानिक दृष्टि से भी है—दोनों अवस्थाओं में कुत्ते की चेतना प्रस्तुत वृत्ति में निहित होती है! अधिक-से-अधिक यह कहा जा सकता है कि जागृत अवस्था में वह एक वृत्ति में पूर्णतः निहित नहीं होती, किन्तु यह सुपुप्तावस्था में भी एक ही वृत्ति में निहित होनी आवश्यक नहीं है। मुख्य बात यह है कि स्वतः इन अपेक्षाओं के स्वरूप में कोई मौलिक अन्तर नहीं है। मानवीय क्रियाएँ पाशव क्रियाओं से कुछ भिन्न होती हैं। खुजलाई आदि की क्रिया मनुष्य और पशु में एक ही स्तर की होती है, किन्तु मनुष्य में भूख और भोजन के बीच का व्यवधान मानसिक दृष्टि से बहुत दीर्घ है। यह व्यवधान, कुछ अवस्थाओं को छोड़ कर, अपेक्षा को इच्छा का रूप दे देता है। अपेक्षा जब ज्ञान-विषय बनती है और अपेक्षित के रुचिर-अरुचिर भाव-संयुत बिम्ब को जन्म देती है तब यह इच्छा बनती है। इस प्रकार से 'अपेक्षा' और इच्छा' में एक गम्भीर अन्तर है। यह अन्तर मनुष्य को आवश्यकतानुसार शरीर-क्रिया को रोकने की सामर्थ्य देता है। इस सामर्थ्य के कारण ही मनुष्य अविहित कार्य—क्रिया—करने पर दंड का भागी समझा जाता है। किन्तु तब भी यह अन्तर मौलिक अन्तर नहीं है, इनमें जटिलता का अन्तर कहा जा सकता है, क्योंकि कुत्ते को भी शरीर-क्रिया में प्रवृत्त होने से रुकना सिखाया जा सकता है। आंग्ल-अमरीकी मनोवैज्ञानिक और समाजवैज्ञानिक 'मूल्य' को 'तरजीह' या 'अभिरुचि' का ही पर्याय समझते हैं, उस अवस्था में उनका मानव-मन सम्बन्धी निष्कर्षों को मूषिकों पर प्रयोग के आधार पर स्थिर करना उचित ही है। इस प्रकार से, इच्छापूर्ति-मूलक मानवीय क्रियाएँ क्रिया के स्तर से ऊपर नहीं उठ पातीं।

कर्म विशिष्ट रूप से मानवीय, या कहें पाशवोत्तर, स्थिति है। इसका स्रोत आत्मसाम्मुख्य है। आत्म या अभिमान (ज्ञाता या कर्ता के रूप में "मैं" का बोध) न केवल ऐन्द्रिय विषय ही नहीं है, बल्कि बौद्धिक विषय भी नहीं है, यह विशिष्ट रूप से मूल्य-विषय है। इसका अर्थ यह नहीं कि यह प्रज्ञानात्मक (कोग्नीटिव) नहीं है, यह उतना ही प्रज्ञानात्मक है जितने अन्य विषय, यद्यपि यह केवल विरले लोगों को या विरले क्षणों में ही, स्फुट प्रत्यक्ष के समान दुर्निवार रूप से प्रस्तुत होता है। किन्तु भिन्न प्रकार का विषय होने से इसके अर्थाभ्युपगम (अर्थ के घटक तत्त्व) भिन्न प्रकार के होते हैं, जिस प्रकार से "गुरुत्वाकर्षण क्षेत्र" के अर्थाभ्युपगम "मेज" से भिन्न प्रकार के होते हैं। कर्तृत्वाभिमान का अर्थाभ्युपगम "अपने अस्तित्व की सार्थकता की जिज्ञासा" है। इसका प्रामाण्य इस प्रश्न के ऐसे समाधान में है जो विशिष्ट रूप से इस प्रश्न के अनुरूप हो। जब इसका समाधान "ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत" दिया जाता है तब इस प्रश्न का अर्थ ग़लत समझ लेने के कारण, क्योंकि घृत भूख या जिह्वा को तो संतुष्ट करता है जीवन की सार्थकता की माँग को नहीं। किन्तु ऋण लेकर घी पीने का यह परामर्श उत्तर इस प्रश्न का ही है, क्योंकि प्रश्न यह नहीं है कि भूख या आस्वाद-वासना कैसे तृप्त की जाय। इस पर आपत्ति की जा सकती है कि यह उत्तर "घी पीने का परामर्श" नहीं है, उत्तर यह है कि "जीवन का स्वरूप शरीरात्मक है।" किन्तु यह उत्तर भी प्रश्न को ठीक न समझने का परिचायक ही होगा, क्योंकि प्रश्न यह नहीं है कि जीवन का द्रव्य रूप क्या है ('जीवन' शब्द के किसी भी अर्थ में) अथवा कि जीवन किस द्रव्य से निर्मित है, बल्कि यह कि इस विशिष्ट विषय—अभिमान—की क्या व्याख्या है, किस पदावली में यह समझा जाय।

उपर्युक्त परामर्श का एक और अर्थ भी हो सकता है, कि इस विषय (कर्तृत्वाभिमान) के अर्थ की माँग भ्रामक है, यह उस चीज की माँग है जो है ही नहीं, शुभ लोकोत्तर अथवा

आत्मोत्तर अन्वेष्य का कुछ अर्थ नहीं है, क्योंकि है तो केवल दृश्यमान, है तो केवल लोक। यह उत्तर ठीक प्रश्न का है, किन्तु भ्रान्त उत्तर है।

अभिमान रूप यह विषय उतना ही ठोस रूप से है जितना कुछ भी अन्य। विषय के होने का प्रामाण्य विषय स्वयं है। हमने कहा, यह विषय मूल्यात्मक है, अर्थात् इसकी रचना सत्यासत्य के सन्दर्भ में न होकर उचित-अनुचित और चरितार्थ-अचरितार्थ के सन्दर्भ में होती है। मूल्य द्रव्य या गुण न होकर ऐसी अवस्था है जो न है और न नहीं है, यह है नहीं क्योंकि यह प्राप्त अवस्था नहीं है, यह होने योग्य अवस्था है, यह नहीं है, ऐसा भी नहीं, क्योंकि अन्वेषण उसे लक्ष्य कर अग्रसर होता है; यह हो जाने के लिए है। इसलिए चार्वाक जब कहते हैं कि यह असत् वस्तु की माँग है, तब वे इस भ्रम में हैं कि मूल्य सत् की माँग होती है। यह क्रिया के लक्ष्य को और कर्म के लक्ष्य को घपलाना है। मूल्य अन्वेपक के वह होने की माँग है जो वह (अन्वेषक) नहीं है, और क्योंकि यह अवस्था अपने हो जाने के रूप में प्राप्तव्य है इसलिए वह कहीं विद्यमान नहीं होती।

इससे मूल्य-प्रत्यक्षवादियों (जैसे मूर)[3] की भूल भी देखी जा सकती है। मूर शुभ या उत्तम को वस्तु का गुण मानते हैं, यद्यपि अप्राकृतिक प्रकार का गुण। यह गुण उसी प्रकार से गम्य होता है जैसे प्राकृतिक गुण, यद्यपि यह इन्द्रियगम्य नहीं होता। यद्यपि मूर गम्यता के इस स्वरूप को परिभाषित नहीं करते किन्तु वे इसमें कोई सन्देह नहीं रहने देते कि यह गुण प्रत्यक्षगम्य (अतीन्द्रिय प्रत्यक्षगम्य) है। किन्तु 'उत्तम', 'शुभ' आदि वस्तुओं के विशेषण ही नहीं होते, ये कर्मों के विशेषण भी होते हैं। और वास्तव में, उपयुक्त रूप से ये कर्मों के ही विशेषण होते हैं। 'उत्तम' या 'शुभ' विशेषण जब वस्तुओं के साथ भी प्रयुक्त होते हैं तब केवल कर्म की प्रतिफल वस्तुओं के साथ ही ये प्रयुक्त होते हैं। 'सुन्दर' शब्द यद्यपि प्राकृत वस्तुओं के साथ भी प्रयुक्त होता है, किन्तु यदि यह माना जाय कि यह वस्तु-गुण के अर्थ में भी प्रयुक्त होता है, तब यह ऐसे प्रयोगों में मूल्यार्थक नहीं होता। मूल्य के अर्थ में 'सुन्दर' शब्द विशेषण के रूप में नहीं संज्ञा के रूप में प्रयुक्त होना उपयुक्त है। इस प्रकार से 'सौन्दर्य मूल्य है' का अर्थ है "सौन्दर्य चरितार्थ्य है"। कर्तृत्वाभिमान इस मूल्यात्मक सौन्दर्य को ही कलाओं के माध्यम से, और अन्य विभिन्न प्रकार से, चरितार्थ करता है।

●

कांट ने 'कर्तव्य' को 'सार्वभौमिक उत्तरदायित्व' कहा है। किन्तु उन्होंने इस सार्वभौमिकता की जैसी व्याख्या की है वह कसौटी को बाहरी भी बना देती है और अप्रयोज्य भी। 'सत्य बोलना' यह कर्तव्य है और इस प्रकार से, उसके अनुसार, "सार्वभौमिक उत्तरदायित्व है।" 'सार्वभौमिक उत्तरदायित्व' का अर्थ है "सबके लिए सब समय कर्तव्य"। यह क्यों उत्तरदायित्व है ? कांट का उत्तर होगा, क्योंकि यह विवेकशील संकल्प (रैशनल विल) का विधान है। यह प्रतिपादन कांट के इस प्रतिपादन के साथ रखने पर कि "संसार में कुछ शुभ नहीं है सिवाय शुभ संकल्प के," कांट हमारी स्थापना के बहुत निकट प्रतीत होते हैं; किन्तु तब भी वे सत्य-भाषण को, और इसी प्रकार से अन्य कर्तव्यों को अनिवार्य कर्तव्यों के रूप में स्थापित करते हैं और इस प्रकार से ये कर्तव्य आकारिक सिद्धान्त का रूप लेते हैं, जो संकल्प के विधान न होकर स्वतंत्र अनिवार्यताएँ हो जाते हैं। इसका स्पष्टीकरण मैं एक उदाहरण से करूँगा—पत्रिका के सम्पादक के रूप में मेरा कर्तव्य है कि मैं समीक्षा के लिए प्राप्त पुस्तकों की समीक्षा निष्पक्ष व्यक्तियों से करवाऊँ। एक बार एक लेखक ने अपनी पुस्तक भेजते हुए मेरे से अनुरोध किया कि मैं उसकी दी गई समीक्षक सूची में से किसी के पास वह पुस्तक समीक्षार्थ भिजवा दूँ। मैंने उसे इन्कार कर दिया, जबकि मैं अन्यथा स्वयं बहुत बार पुस्तक-लेखक से पूछ लेता हूँ कि उसकी पुस्तक किसे समीक्षार्थ भिजवा दी जाय। अब यहाँ मेरे कार्य में प्रकट विरोध है, और कहा जा सकता है कि इस प्रकार से मैं विधान की सार्वभौमिकता का खंडन करता हूँ। किन्तु यह ठीक नहीं है। यदि मैं आकारतः ये दो विरुद्ध क्रियाएँ एक ही प्रयोजन की सिद्धि—निष्पक्ष और उत्कृष्ट समीक्षा प्राप्त करना—के लिए करता हूँ तब मैं वास्तव में विवेकशील शुभ संकल्प के विधान का पालन करता हूँ, और वास्तव में ये दो विरोधी क्रियाएँ तब गम्भीरतर स्तर पर एक ही कर्म हो जाती हैं। यही बात "सत्य-भाषण" के लिए भी है : सत्य-भाषण क्या है ? यदि यह केवल विश्वासानुसार यथाभूत तथ्य का भाषण मात्र है तब यह सापेक्ष दृष्टिकोण से यथारूप चित्र बनाने जैसी क्रिया है, और परिणामतः यह न उचित है न अनुचित है। कर्तव्य के रूप में सत्य-भाषण अत्यन्त

जटिल मन:स्थिति को पूर्वापेक्षित करता है। "असत्य भाषण" का अनौचित्य कर्ता के इस बोध से उत्पन्न होता है कि यह कर्म उसकी अपनी आदर्श-प्रतिभा को खंडित करता है, यह उसे स्थिति-विशेष का सामना करने के अयोग्य और अतएव भीरु प्रमाणित करता है। यदि स्थिति-विशेष में असत्य-वादन से यह आदर्श-प्रतिभा खंडित नहीं होती तब असत्य-वादन अकर्तव्य नहीं है। यहाँ स्वभावत: उन व्यक्तियों के सम्बन्ध में नहीं कहा जा रहा है जो उस जटिल मन:स्थिति के अयोग्य हैं जो उत्तरदायित्व की पूर्वापेक्षा है। असत्य-भाषण के औचित्य और अनौचित्य के दो उत्कृष्टतम उदाहरण हमें महाभारत से मिलते हैं—कृष्ण अनेक बार असत्य-भाषण करने पर भी योगिराज रहे और युधिष्ठिर एक बार असत्य-भाषण से ही अपना उत्कर्ष खो बैठे थे, और उनका रथ, जो उनके निरपवाद सत्य-भाषण के कारण भूमि से चार अंगुल ऊपर रहता था, पृथ्वी पर आ गया। युधिष्ठिर का उत्कर्ष समाप्त होना वास्तव में उनकी अपनी प्रतिभा का अपने सम्मुख खंडित होना था, इससे वे अपने स्वयं के सम्मुख अपराधी घोषित हो गये। यह उनके उस द्वन्द्व और आत्म-ग्लानि से स्पष्ट है जो 'नरो वा कुंजरो वा' कहने में प्रकट हुई।

जैसा कि हमने कहा, असत्य-भाषण से उस व्यक्ति की प्रतिभा भी खंडित नहीं होती जिसकी प्रतिभा आदर्श के उन्नत बोध से मंडित नहीं है, अथवा कहें, जिसके कर्तृत्वा-भिमान का अर्थ स्फुट नहीं हुआ है, किन्तु कृष्ण की प्रतिभा भी खंडित नहीं हुई थी, जब कि वे योगिराज थे—अर्थात् जबकि उनके कर्तृत्वाभिमान का अर्थ स्फुटतम था। यह इसलिए खंडित नहीं हुई क्योंकि उन्होंने अपने संकल्प को पूर्णत: विवेक में प्रतिष्ठित किया था। जो अपने संकल्प को विवेक में प्रतिष्ठित कर सकता है उसका संकल्प पूर्णत: आत्म-विधायक होता है, वह किसी सिद्धान्त के आकार में नहीं बँधता। कांट ने विवेक-जनित स्वातन्त्र्य को स्वीकार करके भी आकार के बंधन को उसके ऊपर प्रतिष्ठित कर दिया। यही कारण है कि शिलर कांट के प्रतिपादन की अर्थापत्ति निकालते हैं कि "जो अपने पड़ोसी से प्यार करता है वह उसके प्रति कर्त्तव्य-पालन नहीं कर सकता" और इसके विपरीत कार्नर कहते हैं कि "कांट का वास्तव अभिप्राय था कि कोई पड़ोसी से, और मानवता से भी, घृणा करते हुए भी उसके प्रति कर्तव्य-पालन कर सकता है।"[४] कांट की ये दोनों ही व्याख्याएँ इस बात की द्योतक हैं कि कांट केटे-गोरीकल इंपेरेटिव को आकारिक अनिवार्यता के अर्थ में ही देखते हैं और उसे विवेकशील संकल्प के ऊपर प्रतिष्ठित करते हैं। किन्तु पड़ोसी के प्रति मन में प्रेम रखना उतना ही कर्तव्य है जितना उसका हित करना, कर्तृत्वाभिमान के लिए दोनों बराबर कर्म हैं, कर्त्तव्य-बाध केवल प्रेमवश होने में है, क्योंकि उसमें स्वातंत्र्य, जोकि कर्तृत्व की पूर्वापेक्षा है, बाधित होता है। यहाँ "सहानुभूति" का रूप देखना उपयोगी होगा। "सहानुभूति" एक नैतिक वेदना है, वेदना होने से यह संवेगात्मक ही है किन्तु तब भी उनसे मूलत: भिन्न है। यह भेद इसके प्रभाव में ही नहीं है अपने निजी गुण में भी है। यह दूसरे के दु:ख से जन्य ताप है, यह पर-दु:ख को अपने में स्थापित करना है, और दु:ख का कारण अपने में न होने से यह दु:ख उन्मोचन करता है। यह ताप-रहित प्रकाशोपम होता है।

इस पर आपत्ति की जा सकती है कि 'पड़ोसी से प्रेम करने' और 'पड़ोसी का हित करने' को एक ही स्तर पर नहीं रखा जा सकता, एक प्रकार से 'पड़ोसी से घृणा करने' को अकर्तव्य भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि अकर्तव्य उसी कर्म को कहा जा सकता है जिसे करने से कर्ता अपने को रोक सकता हो। यदि मेरे मन में पड़ोसी को देखकर घृणा उत्पन्न होती है तब मैं उसे उत्पन्न होने से रोक नहीं सकता, केवल उस ओर से तत्काल के लिए ध्यान हटा सकता हूँ। यह प्रश्न मूर ने उठाया है और इसे कर्तव्य से भिन्न करने के लिए "आदर्श कर्तव्य" कहा है, जबकि बाह्य कर्म को "वास्तव-कर्तव्य" कहा है।[५] किन्तु यह भेद भ्रामक है, मैं पड़ोसी से घृणा करते हुए भी जो उसके हित में प्रवृत्त होऊँगा वह इस बोध से कि पड़ोसी का हित करना उचित है, अर्थात् मैं घृणा से प्रेरित कर्म का बाध करूँगा; यह बोध अधिक उन्नत स्तर पर ले जाने पर मैं अपनी घृणा का भी निरास कर सकता हूँ, क्योंकि पड़ोसी के प्रति घृणा जिस कारण से हुई है, मैं जैसे ही उस कारण को और अपने को एक-दूसरे परिप्रेक्ष्य में देखूँगा वैसे ही यह कारण घृणा-जनक नहीं रहेगा। कृष्ण जब अर्जुन को सब कर्मों को भगवत्-समर्पण करने को कहते हैं तब यह इस परिप्रेक्ष्य के परिवर्तन की माँग ही है, वहाँ वे मूर से उलट 'वास्तव अकर्तव्य' करने का परामर्श देते हैं और

'आदर्श अकर्तव्य' से उपरत होने को कहते हैं। जैसे ही अर्जुन दुर्योधन आदि को विराट् के ग्रास के रूप में देख लेता है, उसकी ग्लानि जाती रहती है, क्योंकि अब वह घृणा से मुक्त हो गया है।

किन्तु तब भी मूर का कथन इस सीमा तक ठीक है कि एक विशिष्ट भाव जब उत्पन्न होता है उसके पूर्व मैं उसके निरोध में समर्थ नहीं होता हूँ, क्योंकि उत्पन्न होने से पूर्व उसका निरोध नहीं हो सकता। बाह्य कर्म का निरोध इसलिए हो सकता है क्योंकि उससे पूर्व उसके लिए प्रवृत्ति उत्पन्न होती है, उस प्रवृत्ति को भौतिक क्रिया में परिणत होने से रोका जा सकता है। किन्तु कठिनाई यह है कि मूर इस सीमा से आगे नहीं देखते। ऐसी मनोवृत्ति इसलिए उत्पन्न होती है क्योंकि कर्ता स्वातन्त्र्य में सम्यग्रूप से अधिष्ठित नहीं होता, उसकी यह असामर्थ्य उसे उसके कर्तव्य से वंचित करती है। यदि वह पर्याप्त सजग है तो उसे इसके परिणाम-स्वरूप आत्मग्लानि होना स्वाभाविक है, उस अवस्था में वह आत्म-शोधन करेगा और भविष्य में वैसी वृत्ति का जन्म उसमें नहीं होगा—यदि मैं अपने साथी के दोषों को अज्ञान का परिणाम देखता हूँ तब मुझे उससे घृणा के बजाय सहानुभूति उत्पन्न होगी, यदि तब भी मुझमें उससे घृणा उत्पन्न होती है तब समझिये कि मैंने इस विवेक का ग्रहण नहीं किया है, केवल मुझे शब्द-ज्ञान हुआ है।

वास्तव में बाह्यकर्म और आन्तरवृत्ति में जैसा भेद मूर ने किया है वह भी उतना ठीक नहीं है—स्वप्न में तो इन दो में कोई अन्तर रहता ही नहीं, उत्कट संवेग की स्थिति में भी यह नहीं रहता। उत्कट संवेग की स्थिति में अपनी शरीर-क्रिया को रोकने का अर्थ है संवेग की उत्कटता पर वश करना और इस प्रकार से विवेक को संवेग के ऊपर स्थापित करना।

●

हमने औचित्य-अनौचित्य का स्रोत कर्तृत्वाभिमान (कर्ता के आत्मार्थ-बोध) को कहा। इसका अर्थ है कि **यदि कोई अपने कर्म को उस अर्थ की कसौटी पर परखता है जिसमें वह अपने को परिभाषित करता है, तो वह अपने कर्म को उचित के सन्दर्भ में देखता है, अन्यथा नहीं।** उदाहरणतः उपर्युक्त संवेग-जन्य शरीर-क्रिया को लें, यदि मैं इसका निरोध इसलिए करता हूँ कि क्रोध के वशीभूत होना मेरे आत्मार्थ के प्रतिकूल है तब मैंने निरोध औचित्य के संदर्भ में किया, किन्तु यदि मैं यह निरोध इसलिए करता हूँ कि इसके कारण मुझे दण्ड का भाजन होना पड़ेगा, तब मैंने निपुणता अथवा व्यावहारिकता के सन्दर्भ में किया। अधिकांशतः हम अपने कर्म इस दूसरे सन्दर्भ में करते हैं। वास्तव में इनका क्षेत्र भी बहुत व्यापक है और ये वैयक्तिक लाभ के ऐसे सूत्र हैं जो समाज के सदस्य के रूप में व्यक्ति के हितार्थ निरूपित होते हैं। सूक्तियों में ऐसी नीति का ही उपदेश रहता है, पंचतंत्र में भी ऐसी नीतियों का ही निरूपण है। एक प्रकार से सामाजिक दंड-व्यवस्था भी हमें ऐसा कर्म-कौशल सिखाने के लिए ही होती है, क्योंकि कोई कार्य इसलिए दण्डनीय होता है क्योंकि वह कार्य अन्ततः व्यक्ति के भी अहित में होता है, चौर-कर्म इसलिए दण्डनीय नहीं है कि यह कुकर्म है, बल्कि इसलिए दंडनीय है क्योंकि यह क्रिया उस व्यवस्था को भंग करती है जो प्रत्येक व्यक्ति के लिए, स्वयं चोरी करने वाले के लिए भी हितकर है। किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि सामाजिक नीति-विधान मूल्यात्मक नहीं होते, इसका अर्थ केवल यही है कि वे नहीं भी हो सकते। चौर-कर्म का उपर्युक्त सन्दर्भ व्यावहारिक नैपुण्य का सन्दर्भ है, किन्तु जब क के चोरी करने पर ख, ग, घ आदि उसकी निन्दा करते हैं तब यह कर्म नैतिक औचित्य के सन्दर्भ में निरूपित होता है, क्योंकि उस समय यह इसकी निन्दा ऐसे कर्म के रूप में करते हैं जिसमें कर्ता उससे अपेक्षित अर्थ से भ्रष्ट पाया जाता है, अथवा कहें जो कर्म सांस्कृतिक कर्तृत्वाभिमान के प्रतिकूल पाया जाता है। इसमें सार्वजनिक लाभ का विचार मानक नहीं होता, सिवाय उन अवस्थाओं के जिनमें स्वयं यह लाभ ही कर्तृत्व के अर्थ का निर्धारक होता है। उदाहरणतः बौद्ध धर्म के उदय के बाद सहस्रों व्यक्तियों का छोटी आयु में ही संन्यासी बनना, राजपूत स्त्रियों का सामूहिक रूप से आग में जलना आदि अनेकानेक ऐसे उदाहरण दिए जा सकते हैं जिनका सामाजिक व्यवस्था या सार्वजनिक लाभ से कोई सम्बन्ध नहीं है, इनका सन्दर्भ एकमात्र सांस्कृतिक कर्तृत्वाभिमान—संस्कृति का आत्मार्थ बोध—है। जब चौर-कर्म की निन्दा में यह तर्क भी दिया जाता है कि "यदि सब ऐसा करने लगें तो सामाजिक व्यवस्था कैसे रहेगी", तब भी यह मूल्यानुवाद ही होता है, क्योंकि "सामाजिक व्यवस्था भंग करना" मूल्य का वैपरीत्य है, जब तक कि इसका किसी अन्य महत्तर मूल्य से अतिक्रमण नहीं होता।

इस प्रकार से सामाजिक सन्दर्भ में व्यवहार की परीक्षा अधिकांशतः मूल्यात्मक दृष्टि से ही होती है, किन्तु यह सन्दर्भ वैयक्तिक सम्बन्धों का अथवा व्यक्तिगत जीवन का ही होता है। सामूहिक व्यवहार की परीक्षा दुर्भाग्यवश मूल्यात्मक दृष्टि से नहीं होती। उदाहरणतः राजा, सरकार अथवा राष्ट्र के लिए कोई कर्म उचित-अनुचित नहीं माना जाता, केवल निपुण-अनिपुण अथवा उपयोगी-अनुपयोगी माना जाता है। राजा के लिए राज्य का लाभ अथवा अपने राष्ट्र का लाभ उसके कर्म का प्रमापक माना जाता है। यह वास्तव में अत्यन्त जटिल प्रश्न है और इसके विस्तार में हम नहीं जाना चाहेंगे, किन्तु कुछ उदाहरण ऐसे भी मिलते हैं जब इस क्षेत्र में भी नैपुण्य के ऊपर मूल्य की प्रतिष्ठा की गई। अशोक और गांधी इसके दो उज्ज्वलतम उदाहरण हैं. लेनिन का रूस में साम्यवादी सरकार स्थापित करने पर ज़ारों द्वारा अपहृत विदेशी प्रदेश उन देशों को लौटाना इसका एक अन्य उदाहरण है। किन्तु अशोक और महात्मा गांधी सम्भवतः दो ऐसे विलक्षण उदाहरण हैं जिन्होंने सामूहिक कर्म को पूर्ण रूप से औचित्य के सन्दर्भ में प्रतिष्ठित किया।

•

औचित्य का स्रोत कर्तृत्व के अर्थ-बोध को कहने से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि नैतिक निर्णय विषयनिष्ठ होते हैं। किन्तु हमारी स्थापना से यह किसी प्रकार से अर्थापतित नहीं होता। वास्तव में विषयिनिष्ठ-विषयनिष्ठ शब्दों का प्रयोग अधिकांशतः इनको समझे बिना होता है, परिणामतः इस प्रसंग को लेकर बहुत घपला है।

"विषय" क्या है ? इसका सहज उत्तर मन में आता है, मेज़, कुर्सी, पुस्तक जो मेरे सम्मुख दिखाई दे रहे हैं, ये विषय हैं। अर्थात् ऐन्द्रिय प्रत्यक्षगत वस्तुएँ विषय हैं। किन्तु इस परिभाषा को थोड़ा ध्यान से देखने पर इसकी अपर्याप्तता स्पष्ट हो जाएगी : ऐन्द्रिय प्रत्यक्षगत मेज, कुर्सी, पुस्तक आदि नहीं होते, वर्ण-गन्ध-आस्वाद-ध्वनि आदि होते हैं। वर्ण-गन्ध आदि भी विषय हो सकते हैं, किन्तु मात्र ऐन्द्रिय प्रत्यक्षगत वर्ण-गन्ध आदि विषय नहीं हो सकते। "आकाश की नीलिमा" में नीलिमा विषय है, किन्तु इसका विषयत्व वर्ण की प्रत्यक्षता में नहीं है, यद्यपि प्रत्यक्षता इसके विषयत्व की एक घटक है, इसका विषयत्व "उन सब देखने वालों को नील दिखाई देने की सम्भावना में" है "जिनकी दृष्टि निर्दोष" है। इस परिभाषा में "सम्भावना" और "निर्दोष" शब्द समस्यात्मक हैं। किन्तु हम इस प्रश्न के विस्तार में जाए बिना कह सकते हैं कि "सम्भावना" का अर्थ है "आकाश का वह गुण जो प्रत्यक्षातिक्रामी है, जो प्रत्यक्षगत नहीं होता" और "निर्दोष दृष्टि" का अर्थ है "वह दृष्टि जो वर्ण को अधिकांश देखने वालों के अनुरूप देखती है।" यह परिभाषा अत्यन्त स्थूल है, इसको सूक्ष्म विस्तार से हम अगले अध्याय—प्राकृतिक विज्ञान—में देखेंगे। प्रस्तुत प्रयोजन के लिए उपरोक्त परिभाषा पर्याप्त है। अब इस परिभाषा से स्पष्ट है कि ऐन्द्रिय विषयों का विषयत्व अतीन्द्रिय है—यह सर्जनात्मक मन का आक्षेप है जो प्रत्यक्षों को विषयत्व प्रदान करता है। इसके बिना वर्ण आदि विशुद्ध रूप से 'व्यक्तिगत' अथवा कहें 'विषयिनिष्ठ' रहते हैं। यह रचना-तत्त्व उन नियमों के रूप में व्यक्त होता है जो किसी निर्णय के युक्त-अयुक्त होने की कसौटी बनाते हैं। युक्तता के जितने सन्दर्भ होते हैं उतने ही प्रकार के विषय होते हैं, इस प्रकार से प्रत्यक्षगत विषय एक प्रकार के विषय हैं और धार्मिक, नैतिक, भाषीय अन्य अनेक प्रकार के। ये सब बराबर विषय हैं। किन्तु एक सन्दर्भ के अन्तर्गत भी नियम अथवा कसौटी एक ही प्रकार की होना अनिवार्य नहीं है, वे अनेक प्रकार की हो सकती हैं, अनिवार्यता केवल इस बात में है कि एक कसौटी स्वीकार करने पर एक ही प्रकार के निर्णयों की युक्तता अर्थापन्न होगी। उदाहरणतः प्रत्यक्षगत विषय वैज्ञानिक कसौटी पर और पौराणिक कसौटी पर रचित होते हैं,[६] और अन्यान्य दूसरी कसौटियों पर भी रचित हो सकते हैं।[७] इन कसौटियों के वैभिन्न्य से इन विषयों की विषयनिष्ठता का खण्डन नहीं होता, क्योंकि विषयनिष्ठता की कसौटी केवल सार्वजनिकता नहीं है। विषयनिष्ठता की कसौटी वे अर्थमूलक अभ्युपगम होते हैं जो तत्सम्बन्धी निर्णयों को युक्त अथवा अयुक्त बनाते हैं—ज्ञान-विषयों को सत्य या असत्य और नैतिक विषयों को उचित या अनुचित। ये अर्थाभ्युपगम नियत होने पर निर्णयों का औचित्य-अनौचित्य या सत्यता-असत्यता नियत रहते हैं और सबके लिए समान रूप से स्वीकार्य होते हैं। किन्तु स्वयं अर्थाभ्युपगम नियत नहीं रहते, एक सन्दर्भ में ये अनेक हो सकते हैं। उदाहरण के लिए बुद्ध और कन्फ्यूशियस के नैतिक औचित्य के सन्दर्भान्तर्गत अर्थाभ्युपगम भिन्न-भिन्न थे, हिन्दू संस्कृति और मुस्लिम संस्कृति के भी अर्थाभ्युपगम (घटक अर्थ) भिन्न-भिन्न हैं, अर्थात् हिंदू

संस्कृति में भाग लेने वाला एक व्यक्ति और मुस्लिम संस्कृति में भाग लेने वाला एक व्यक्ति अपने कर्मों की व्याख्या और विनियोग भिन्न-भिन्न अभ्युपगमों के प्रसंग में करते हैं। किन्तु इन दोनों के कर्मों के औचित्य पूर्ण रूप से विषयनिष्ठ हैं, क्योंकि ये औचित्य व्यक्तिगत रुचि और सुविधा से निर्धारित नहीं होते।[८]

ये अर्थाभ्युपगम सहज लब्ध भी हो सकते हैं और प्रतिपादित भी हो सकते हैं। मनुष्य जैसे ही मानवता का स्तर प्राप्त करता है, वह कर्तृत्वाभिमान का साक्षात् करता है—व्यक्तिशः या जातीय समग्रता में। समाज की आदिम अवस्थाओं में वैयक्तिक व्यक्तित्व का स्फुट बोध नहीं रहता, इसलिए कर्तृत्वाभिमान का साम्मुख्य भी जातीय समग्रता में ही होता है, अथवा कहें—जातीय कर्तृत्वाभिमान का ही साम्मुख्य होता है। उस समय इस विषय—कर्तृत्वाभिमान—के अभ्युपगम पूर्णतः सहज-लब्ध होते हैं। पीछे सांस्कृतिक विकास-क्रम में, कुछ विलक्षण चेतना-सम्पन्न व्यक्ति इन अभ्युपगमों के विरुद्ध विद्रोह कर नए अभ्युपगमों का प्रतिपादन करते हैं, जो अन्यों के लिए सहजलब्ध हो जाते हैं।

अभ्युपगमों को इस प्रकार से स्वतःसिद्ध और औचित्य को इस प्रकार से सापेक्ष मानने के विरुद्ध आपत्ति की जा सकती है कि इसके अनुसार सब अभ्युपगम बराबर स्तर के हो जाएँगे और परिणामतः किन्हीं स्थापित अभ्युपगमों के विरुद्ध विद्रोह यादृच्छिक हो जाएगा। उदाहरणतः बुद्ध द्वारा हिन्दू कर्तृत्वाभिमान के स्थापित रूप को चुनौती की क्या युक्तता होगी सिवाय इसके कि वे इसके स्थापित रूप से असन्तुष्ट थे, अथवा कि उन्होंने जिस कर्तृत्वाभिमान का साम्मुख्य किया उसके अभ्युपगम भिन्न थे?

इसका अंशतः उत्तर होगा कि उनकी अन्य कोई युक्तता नहीं है सिवाय इसके कि उन्होंने भिन्न परिप्रेक्ष्य में औचित्य के सन्दर्भ को देखा था। किन्तु यह केवल अंशतः ही सही है, यद्यपि अंशतः सही यह अवश्य है। किन्तु इसके शेषांश को समझने के लिए प्रश्न की गहराई में और नीचे उतरना होगा।

कर्तृत्व-बोध अथवा मूल्यात्मक कर्म-चेतना जबकि अपने चरितार्थन के लिए अनेक अभ्युपगमों का आश्रय लेती है, यह अपने अर्थ का सदैव स्पष्ट अथवा सम्यक् ज्ञान नहीं रखती। आत्मार्थ का सम्यक् ज्ञान जबकि प्रामाण्य-दृष्टि को भी अत्यधिक मात्रा में ही प्राप्त होता है, मूल्यात्मक दृष्टि के लिए यह ज्ञान अत्यधिक दुर्लभ है। निस्सन्देह यह ज्ञान अनेक अभ्युपगमों द्वारा चरितार्थ हो सकता है, किन्तु इन अभ्युपगमों का अपना तर्क सदैव हमें पूर्णतः ज्ञात नहीं होता, और बहुत बार अभ्युपगम भी भ्रान्त हो सकते हैं। उदाहरणतः बुद्ध और ईसा के अभ्युपगम एक ही नहीं थे, किन्तु दोनों में कर्तृत्व-दृष्टि की ओर सम्यग्ता समान थी, राजाशाही और प्रजातंत्र के अभ्युपगम एक ही नहीं हैं, किन्तु दोनों में कर्तृत्व-दृष्टि की सम्यग्ता-असम्यग्ता की बराबर सम्भावनाएँ हैं, यद्यपि प्रजातंत्र समग्र अनुभव के अधिक समृद्ध स्तर की पूर्वापेक्षा करता है। अब, प्रजातंत्र बोध के जिन अभ्युपगमों पर प्रतिष्ठित है उसकी सभ्यतम दृष्टि हम गांधीवादी राज्य-व्यवस्था में और गांधीवादी राजनीतिक आचार-संहिता में पाते हैं, किन्तु गांधीजी से पूर्व यह किसी ने नहीं देखा था, और न उनके बाद किसी ने उसे स्वीकार करने का साहस दिखाया।

कर्तृत्व-दृष्टि बहुत बार भ्रान्त भी होती है, और इसके भ्रान्त होने की सम्भावनाएँ उससे कहीं अधिक रहती हैं जितनी प्रामाण्य-दृष्टि के, क्योंकि कर्म का सम्बन्ध हमारे वासना-आवेगमय जीवन से कहीं अधिक घनिष्ठ है, जितना कि प्रामाण्य का। यह सम्बन्ध इतना निकट और घनिष्ठ है कि बहुत-से विचारक मूल्य-दृष्टि को, जिसमें कर्तृत्व-दृष्टि एक भाग है, वासना और आवेग-मूलक ही मानते हैं। किन्तु जितना ही निकट का सम्बन्ध इनमें है उतना ही वैपरीत्य इनके स्वरूप में है। प्रामाण्य सन्दर्भ के अर्थाभ्युपगम वासना-मूलक भी हो सकते हैं (पौराणिक प्रामाण्य-दृष्टि वासना-मूलक ही है) और यदि क्रिया-कारित्व के बौद्ध सिद्धान्त को माना जाय, तो सभी प्रामाण्य-दृष्टियाँ वासनामूलक ही हैं। किन्तु मूल्य-दृष्टि अथवा कर्तृत्वाभिमान का बोध अर्थतः वासना का प्रतिषेधक है, क्योंकि स्वातंत्र्य कर्तृत्व-बोध की सम्यग्ता की पूर्वापेक्षा है। उदाहरणतः, अन्तर्वैयक्तिक सम्बन्धों में नैतिक दृष्टि, अन्य बातों के अतिरिक्त, स्वार्थ-त्याग अथवा आत्म-बलिदान की भावना को जन्म देती है। अब यदि आत्म-बलिदान को भी वासना माना जाय तब दूसरी बात है, किन्तु अन्यथा यह वासना से ऊपर उठकर कर्म को विवेक में प्रतिष्ठित करना है। उदाहरणतः मैत्री को लें—'राम मेरा मित्र है' का अर्थ इसके ठीक विपरीत है कि 'राम मेरा स्वार्थ-साधक है', बहुत-कुछ इसका अर्थ है कि 'मैं राम का स्वार्थ-साधक हूँ।' यह ठीक है कि यदि राम मेरा मित्र है तो वह

मेरा स्वार्थ-साधन भी करेगा, यदि वह उसके विपरीत करता है तो वह मित्र नहीं हो सकता, क्योंकि इस प्रकार से उसका व्यवहार 'मित्र' के अर्थ का बाधक होगा; किन्तु मेरी उसके प्रति मित्रता का उसकी मेरे स्वार्थसाधन में उपयोगिता से कोई सम्बन्ध नहीं है। इसीलिए मित्रता के आदर्श के रूप में सुदामा के प्रति कृष्ण के मित्र-भाव का उदाहरण दिया जाता है, कृष्ण के प्रति सुदामा के मित्र-भाव का नहीं। यही बात राम के वन-गमन में उद्भूत होती है: दशरथ यदि राम को राज्य देते तो वे कर्तव्य का कोई विशेष परिचय नहीं देते, यदि उन्होंने नहीं दिया तो वे भयानक रूप से कर्तव्य-च्युत हुए। इस परिप्रेक्ष्य में राम का दशरथ की आज्ञा का पालन राम के कर्म के गौरव को शतधा बढ़ा देता है।

वासना, प्रवृत्ति और संवेग का प्रतिषेध कर्तृत्वाभिमान के अभ्युपगमों का मुख्य घटक है। वासना, संवेग आदि का अपने विषयों से सम्बन्ध कारणमूलक होता है और अतएव विषय इनमें नियामक होता है। इसके विपरीत, कर्तृत्व का विषय, जैसाकि हमने पीछे देखा, बोध का अपना स्वरूप है जो क्रिया के माध्यम से अपने को चरितार्थ करता है।

निश्चय ही व्यक्तियों के जीवन में स्वातंत्र्य के ऐसे क्षण विरले ही होते हैं, किन्तु ये क्षण ही नैतिक कर्म के क्षण होते हैं, शेष तो सांस्कृतिक कर्तृत्व-बोध की अभिव्यक्ति के निमित्त मात्र बनते हैं। ●

१. द्रष्टव्य 'संस्कृति का अधिष्ठान', तत्त्वचिन्तन, वसन्त १६६८, अंक।
२ ज्ञान और सत् में अ २ तथा अ-८ द्रष्टव्य।
३. द्रष्टव्य : फिलासफीकल स्टडीज़ में कान्सेप्शन ऑफ इंट्रिंसिक वेल्यू लेख।
४. कॉर्नर-कांट, पृ० १३१ (पेंग्विन बुक्स)।
५. जी० ई० मूर, फिलासफीकल स्टडीज़ में, दि नेचर ऑफ मॉरल फिलोसोफी लेख, पृ० ३२० से आगे।
६. द्रष्टव्य : पौराणिक दृष्टि तत्त्वचिन्तन, ग्रीष्म १६५८, और प्राकृतिक विज्ञान, दार्शनिक त्रैमासिक, अप्रैल १६६८।
७. द्रष्टव्य : ज्ञान और सत् में अ-४ और ५।
८. श्री चाँदमल ने नैतिक औचित्य को इस अर्थ में सार्वभौमिक माना है कि औचित्य विषयक कोई निर्णय निरपेक्षतः उचित या अनुचित होता है। वे कहते हैं : "नैतिक तथ्यों का नैतिक दृष्टि से पर्यवेक्षण करने पर सभी नैतिक चिन्तक उनकी मूल्यात्मकता के बारे में सदैव एक ही निष्कर्ष पर पहुँचेंगे। इसी अर्थ में नैतिक निर्णयों को सार्वभौम कहा जा सकता है।" (दार्शनिक त्रैमासिक, अक्तूबर १६६५) पृ० २१३। उद्धृत वाक्य यद्यपि थोड़ा भ्रामक है, क्योंकि यह पुनरुक्ति मात्र प्रतीत होता है, किन्तु चाँदमलजी यहाँ यही कहना चाहते हैं कि नैतिक-सन्दर्भ में नैतिक तथ्यों पर निर्णय एक ही हो सकते हैं। यदि तथ्य त के सम्बन्ध में निर्णय क सही है तो ख, ग सही नहीं हो सकते। हमारे विचार में, नैतिक वस्तुस्थिति के सम्बन्ध में यह एक अत्यन्त सरल दृष्टि है।

मराठी नवलेखन और विद्रोह

डा० प्रभाकर माचवे

' दिल्ली में बैठकर सुदूर महाराष्ट्र के सांप्रतिक विद्रोह के बारे में लिखना मराठी की एक कहावत के अनुसार 'ऊँट पर बैठकर भेड़ हाँकने' जैसा काम है। एक तो दिल्ली में मराठी साहित्य की नवीनतम प्रवृत्तियों की सामग्री ही प्राप्त होना कठिन है; और अब दिल्ली में कोई सृजनात्मक प्रतिभा का श्रेष्ठ साहित्यिक भी नहीं—कभी दिल्ली में मर्ढेकर, मामा वरेरकर और पु० मं० लाड, कुसुमावती देशपांडे और आ० रा० देशपांडे 'अनिल' रहते थे। दिल्ली के अन्तिम नवीन साहित्य-सम्बन्धी चर्चक प्रभाकर पाध्ये भी अब यहाँ नहीं हैं। अतः एक प्रकार से दिल्ली में मराठी विद्वान् और विविध विषयों के पंडित, राजनीति वाले लोग तो हैं, पर सिर्फ इक्के-दुक्के साहित्य-शौकीन से, मराठी साहित्य के बारे में सामग्री प्राप्त करना या गप-शप करना भी मुश्किल है। यही हालत अन्य साहित्यों के बारे में भी है। अतः मुझे इस काम से बख्शिए।" इस आशय का पत्र इस लेख के लेखक ने लिखकर क्षमा-याचना कर ली थी। परन्तु हमारे विशेष आग्रह पर उन्होंने कुछ विद्रोही नमूने जमा कर दिए हैं और उन पर कोई भी मूल्यांकनात्मक टिप्पणी देने से इनकार किया है। नवलेखन का सम्बन्ध भाषा में भी बग़ावत करने से है और इसलिए अनुवाद में मूल का स्वारस्य पूरी तरह नहीं आ पाया है, इस बात का अहसास लेखक को है।

शिवाजी के गुरु समर्थ रामदास से ही कविता में 'बंडखोरी' बग़ावत शुरू होती है। कुछ लोग उसे संन्यासी-पुत्र ज्ञानेश्वर और तत्कालीन ढोंग पर सख्त चोट करने वाले तुकाराम तक ले जाते हैं। 'नया सिपाही' और 'अछूत बच्चे का सवाल' और 'तुरही' और 'मज़दूर की फाकेकशी' पर केशवसुत ने सौ वर्ष पूर्व लिखा और उनके समकालीनों ने उनकी उपेक्षा की। उनका काव्य-संग्रह (केवल १३२ कविताएँ) उनकी मृत्यु के बाद छपा। फिर भी कृष्णजी केशव दामले (केशवसुत) को ही पहला विद्रोही आधुनिक कवि माना जाता है। अपने-आपको विद्रोही कहलानेवालों में कई लोगों ने कई तरह का विद्रोह किया—छन्द और तुक-ताल से लगाकर कथ्य और विषयों में भी। प्रायः हर कवि एक-न-एक 'डंका' या 'पडघम' या 'रणभेरी' केशवसुत की 'तुरही' की नकल में लिखता रहा। रोमेंटिक कवि गडकरी और 'बी' भी अपवाद नहीं थे। सावरकर और माधव जूलियन में यह विद्रोह कुछ दूसरा ही रूप लेता है और राष्ट्रीय स्वतन्त्रता और सामाजिक सुधार की उनकी दृष्टि के अनुसार वह विद्रोह प्रकट होता है। परन्तु यह सब पूर्व-परम्परा यहाँ इसलिए दी गई है कि आ० रा० देशपांडे 'अनिल' और मर्ढेकर के विद्रोह को समझने के लिए यह परम्परा बहुत ज़रूरी है। अब मैं उन्हीं के उद्धरण देकर 'अनिल', मर्ढेकर और पु० शि० रेगे की बात संक्षेप में रखकर—बीच की कुसुमाग्रज, कांत, वसन्त बापट, विंदा करंदीकर, मंगेश पाडगावकर, शरच्चंद्र मुक्तिबोध की पीढ़ी को छोड़कर (जिनके यहाँ भी विद्रोह के कई रूप हैं: 'गर्जा जयजयकार, क्रान्तिचा' या 'रुद्रवीणा' या 'बिजली' और 'स्वेदगंगा' और 'मृद्‌गंध' और 'जिप्सी' की कई कविताएँ) मैं सीधे आज के 'असो' (अस्तु), 'शब्द', 'फक्त', 'टिंब', 'वांचा' आदि की 'चालू कविता' वाली पीढ़ी तक आना चाहता हूँ। ब्लाक बनाने की असुविधा में यहाँ भी र० कृ० जोशी की ठोस कविता के उदाहरण देना असम्भव है। विस्तार-भय से मैंने गद्य को छोड़ दिया है यद्यपि उसमें भी 'कोसला' (भालचंद्र नेमाडे), 'अजगर' और 'कोंडुरा' (चिं० त्र्यं० खानोलकर) और 'वासूनाका' और 'बँ० अनिरुद्ध धूतपापेश्वर' (भाऊ पाध्ये) जैसी बहुत अर्थपूर्ण उपन्यास-कृतियाँ और दिलीप चित्रे की बहुचर्चित कहानी 'केसाल कालेयोर पिल्ली' (बालदार काला पिल्ला)। और नाटकों के क्षेत्र में विजय

तेंडुलकर, चिं० त्र्यं० खानोलकर ('एक शून्य बाजीराव' के लेखक) आदि अनेक नट-नाटककारों ने भी बहुत बड़ा विद्रोह अपने-अपने ढंग पर किया है। समीक्षा में तो इसकी चर्चा इतनी अधिक हुई है कि नारायण सुव के एक संग्रह 'माझे विद्यापीठ' पर एक-डेढ़ वर्षों में सत्ताईस लेख पक्ष-विपक्ष में छपे हैं। वैसे भी मराठी में—और शायद सभी भाषाओं में—सृजन से अधिक समीक्षात्मक चर्चा बहुत अधिक छपती है। कविता से अधिक वक्तव्य पर यहाँ ज़ोर है। मसलन हाल में 'सत्य-कथा' में छपी मंगेश पाडगाँवकर की 'पुरुषसिंह' कविता (जिसका दिनकर सोनवलकरका अनुवाद 'धर्मयुग' ने हाशिये पर छाप दिया) पर 'सत्यकथा' और 'टिंव' तक तीन महीनों तक लम्बा पत्र-व्यवहार ! या उससे पहले छपे दिलीप पुरुषोत्तम चित्रे के 'माडर्न मराठी पोएट्री' (१९४५-६५) नामक काव्य-संग्रह (भूमिका और अंग्रेज़ी अनुवाद) पर मराठी कवियों की पुरानी पीढ़ी में क्षोभ और कहीं-कहीं कुछ बहस। इन सब विवरणों में जाना सम्भव नहीं होगा। इसलिए सिर्फ़ कुछ कविताओं और समीक्षात्मक उद्धरणों तक ही यह लेख सीमित है। अरुण कोलटकर के 'असो' में छपी कविता उन्हीं की भाषा 'बम्बैया हिन्दी' में मूल जैसी छपी है, ज्यों-की-त्यों दी गई है। मैं इस सारे उत्प्लवन को बहुत गम्भीरता से देखकर, जानने की कोशिश कर रहा हूँ। इसके बारे में कोई भी मूल्य-मीमांसा में मैं पड़ना नहीं चाहता। इसका अर्थ यह नहीं कि मैं इस सारे लेखन का अन्ध समर्थन करता हूँ।

बंड [विद्रोह]

[कवि : आत्माराम रावजी देशपांडे 'अनिल' मार्च, १९३५ में 'सुप्त ज्वालामुखी' नामक कविता में क्रान्ति का दर्शन प्रस्तुत कर चुके थे। उनकी यह कविता अक्तूबर, १९४६ की लिखी है। यह सब अनुवाद अक्षरशः है।]

है हृदय में अब
सिर्फ़ उद्दाम विद्रोह भरा हुआ
करते हुए थंड बचे हुए भाव
भावनाएँ रची हुईं

ऊब गए हैं पूरे
उन्हीं
शृङ्गार वीर करुणादि
नवरसों से
जोश के साथ उछालेगा जो
मानवता के प्रक्षोभ को
ऐसा रस अखंड
स्थायीभाव विभाव अनुभाव
संचारी भाव उसके
अनुभव कर रहे हैं पाखंडी

शरीर में रक्त के
अणु-अणु का
अणुस्फोटन करने वाले
रसायनशास्त्र के साहित्य का
हम ध्यान कर रहे हैं
हटाने के लिए हमले
मानवमात्र के शत्रु के
उनके किले उड़ाने के लिए
क्षणार्ध में आसमान में
धूल में मिलाने के लिए एक आघात से
अँधियारे युग के साम्राज्य
स्थापित करने के लिए अधिराज्य
समता का

(पेर्तेव्हा : पृ० ९६-९७)

•

बाल सीताराम मर्ढेकर की 'काही कविता' (कुछ कविताएँ, १९४७) से पृ० ३८ पर से कुछ अभंग :

क्यों फूट मचा रहे हो। स्वतन्त्रता की बही क्यों रंगते हो
स्वजन रक्त से प्रतिदिन। लथपथ ॥
गाते हो धर्म के प्रशंसा-गीत। खुले हुए कवाड
दिखाते हैं आबरू की हड्डियाँ। टँगी हुई ॥
ओ हिन्दू-मुसलमान। प्राण देश पर कुरबान
परन्तु यादवों की तरह खानाजंगी तो लांछन। अल्लाह और राम को ॥
जो उठता है वह नेता। बड़ी लम्बी-चौड़ी बातें हाँकता है
पर हुल्लड़ का नियन्ता। कोई नहीं ॥
शब्दशूर वाचा-वीर। ऐसे नेता बड़े-बड़े

जिन्होंने प्रेतों का बाजार । बुलाया है ।।
किया धर्म को नीलाम । बुर्के के नीचे सत्ता-लिप्सा,
यहाँ तुम्हें-हमें राजा । सिर्फ़ मौत ।।
जो-जो कहलाते हैं नेता । समय आने पर देते हैं बुत्ता;
छुरा पीठ में, उर में छर्रा । तुम्हारे-हमारे ।।
बोलो अल्लाह हे राम । करो पैग़म्बर को प्रणाम;
हमें-तुम्हें है हराम । बन्धु-द्वेष ।।
कहाँ गया, कहाँ मक्का । हत्याकांड यहाँ है बेकार;
भूखे-कंगालिस्तान क्यों । ज़िन्दाबाद ?

●

पुरुषोत्तम शिवराम रेगे के निबन्ध-संग्रह 'छांदसी' (१९६२) से पहले लेख 'आधुनिक कविता के निमित्त से' मूल प्रकाशन-तिथि (युगवाणी, १९४७) में का एक अंश—पृष्ठ ३ ।

"स्थूल रूप से आधुनिक मराठी कविता की चार प्रवृत्तियाँ दिखाई देती हैं :

(१) 'अंगारे, आँसू, रक्त, चिंदियाँ' काव्य : श्रीकृष्ण पोवळे, कृ०ब० निकुंब, वसन्तराव चिंधड़े आदि कवियों ने इस विषय को इतना साना है कि निदान कुछ और वर्षों के लिए मराठी कविता के लिए यह काफी होगा । खेद की बात यह है कि इनमें अधिकांश आवेश उधार का होता है : और वह उधार का है—केवल शाब्दिक है—यह तावड़तोळ समझ में आ जाता है । इस तरह की कविताएँ पढ़कर भावनाएँ थर्रा उठने के बजाय एक तरह की सुस्ती और जुगुप्सा बढ़ती है ।

(२) 'मानवता-क्रान्ति' काव्य : आ० रा० देशपांडे और ना० ग० जोशी ये इस काव्य के प्रमुख पुरस्कर्ता हैं। कवि की सामाजिक भूमिका पर हम लोगों का बल है । आधुनिक काल के आदर्श कवि आत्मसात करें और समाजद्रष्टा के नाते मार्गदर्शन करें ऐसा इन कवियों का दावा है । अब हर एक कलाकार को कुछ-न-कुछ कहना तो होता ही है, पर वह सहज हो जाए, तो उसी में मज़ा है । प्रचारक का बाना पहना कि अच्छी कलाकृति भी बिगड़ जाती है । इसका ताज़ा उदाहरण आ० रा० देशपांडे का 'निर्वासित चीनी बालक के प्रति' दीर्घ काव्य है । इसमें के कई परिच्छेद निबन्ध-जैसे हैं ।···

(३) 'पारिजात' काव्य : इसमें पुराने संत-कवियों की नकल होती है । इस कविता में नवीन दृष्टि बहुत कम होती है । वही संकेत, शब्द-प्रयोग । प्राय: सब प्रचलित कवियों ने यह शैली अपनाई है । नौसिखुए और नव-सिक्के वाले कवि इसका बड़ा प्रयोग करते हैं ।

(४) झूठे ग्राम-गीत पुराने ज़माने के यशवंत-गिरीश आदि कवियों ने यह प्रथा शुरू की (हिन्दी के सन्दर्भ में 'ग्राम्या' या 'त्रिपथगा') । गँवई शब्द बीच-बीच में छिटककर शहरी भावनाएँ गाँव वालों के मुँह से बुलवाने का यह प्रयत्न था । ऐसे ही बीच में नाव वालों के गाने चल पड़े । रेडियो और चूड़ी के वाजे के रिकार्डों ने इन्हें बहुत महत्त्व दिया । मराठी कविता का सबसे अधिक नुकसान इन नकली गीतों ने किया ।"

●

मर्ढेकर पर कोर्ट में अश्लीलता-सम्बन्धी आरोप के उत्तर के अंश (मूल उन्हीं के शब्दों में) सन्दर्भ—'काही कविता' पुस्तक १९४७ में छपी—इसमें ६० कविताएँ थीं । बम्बई सरकार ने इस पर अश्लीलता का मुकद्दमा चलाया । कवि को बयान देना पड़ा । उनके वकील श्री सराफ को मर्ढेकर ने एक निजी पत्र लिखा । मुकदमा खारिज होने के बाद 'सत्य-कथा' के अगस्त १९५२ के अंक में सम्पादकीय के साथ यह पत्र छपा है । मूल पत्र बहुत ज़ोरदार है । उसका एक पैरा यों हैं :

"It is possible to dislike my poetry. It is possible to damn it as bad poetry. It is possible to quarrel with its mood violently. All this can be done. But to say it is in the smallest part obscene, obscene of all the despicable things in the world, is, well, just absurd. If indeed there is any obscenity in my poetry, it is the obscenity of the entire human destiny. For every birth is a sublimely obscene occurrence and every death is a pitifully obscene affair."

●

['अभिरुचि' दीवाली अंक १९५० में पृ० २२५ पर अमर शेख की 'अंगारों का हृद्गत' कविता छपी है और पीछे २२६ पृष्ठ पर गंगाधर गाडगील की कहानी 'बस का टिकट'। इस कविता से कुछ पंक्तियाँ :]

हाँ, वही मैं अंगारा हूँ
आग उगलना मुझे प्यारा है
आग सदा उगलता हूँ
कीड़े सारे जलाता हूँ।

मैं आग का बाग खिलाता हूँ
आग से जीवन खिलाता हूँ
मुझे बुरे से नफ़रत है,
बुरे की गन्ध से नफ़रत है

सब अच्छी चीजें रखता हूँ
सब बुरी चीजें जलाता हूँ
वह बुराई जो दुःख निर्माण करती है
उसकी मैं अकड़ दूर करता हूँ।"

(इत्यादि ९६ पंक्तियाँ)

●

[जहाँ समाजवादी प्रचार की एकदम सपाट अभिधायुक्त रचनाएँ छप रही थीं, तब शरच्चन्द्र मुक्तिबोध ने 'नई मळ-वाट' (नई पगडंडी) में सशक्त कविताएँ दीं जो ध्वनि-प्रधान थीं। 'साधना' के बुद्ध विशेषांक—२४ मई, १९५६ में मंगेश पाडगाँवकर के काव्यनाट्य 'बुद्ध' का अन्तिम अंश पागल समझकर बुद्ध को पत्थर मारकर लोग गिराते हैं :]

(धीरे-धीरे रास्ते पर शान्ति)

···फटे काषाय वस्त्रों में बुद्ध
गटर के किनारे के पेड़ के नीचे
रक्त-रंजित होकर गिरा
'तथागत' पर पत्थरों ने विजय प्राप्त की !
निर्मनुष्य रास्ते पर
मक्खियों का भिन्नाता कुतूहल
सिर्फ़ बचा···
तभी पैर बजे
रँगे हुए होंठों में से लचकते हुए उड़ा
सस्ता गुनगुना गाना
और उसके साथ
चर्वित पान की लाल पिचकारी
वह पथवेश्या 'बुद्ध' के पास आई
रक्त-रंजित बुद्ध को देखकर
वहीं चकित होकर बैठी
सामने के होटल वाले को चीखकर उसने कहा :
भयविवर्ण आवाज़ में
आदत से मिली हुई लाड़-भरी लचक

पथवेश्या :

ओ ऽ होटलवाले ऽऽ
एक आने का चा भेज दे
मैं बाद में पैसे दे दूँगी
पागल के मुँह में जाने दे
थोड़ा-सा चा···
अभी जिन्दा जान पड़ता है।

●

['असो' नामक पत्रिका अशोक शहाणे आदि चलाते रहे। उसके पहले अंक में पहले पृष्ठ पर अरुण कोलटकर की कविता। मूल ज्यों-की-त्यों—प्रकाशन-तिथि दी नहीं है। पर १९५९-६० रही होगी। अरुण कोलटकर का कोई संग्रह नहीं छपा है। पर दिलीप चित्रे उसे मराठी कविता की सबसे महत्त्वपूर्ण प्रतिभा मानते हैं। यही कविता 'मॉडर्न मराठी पोयट्री' में 'थ्री कप्स ऑफ़ टी' नाम से छपी है, अनुवाद में मूल की वर्तनी ज्यों-की-त्यों रखी है।]

अरुण कोलटकर

एक कविता

मैं मैनेजर को बोला मुझे पगार मँगता है
मैनेजर बोला कम्पनी के रूल से एक तारीख को पैसा मिलेगा

उसकी घड़ी टेबल पै पड़ी थी
मैंने घड़ी उठाके लिया
और मैनेजर को पुलीस चौकी का रास्ता दिखाया
बोला अगर कम्प्लेंट करना है तो कर लो
मेरे रूल से पगार आज ही होगा

मैं भाभी को बोला
क्या भाईसाब के ड्यूटी पे मैं आ जाऊँ ?
भड़क गयी साली
रहमान बोला गोली चलाऊँगा
मैं बोला एक रंडी के वास्ते ?
चलाव गोली गाँडू

मैं वर्मा गया उधर आग पिक्चर लगा था
पिक्चर देखने गया
उधर टिकट के वास्ते कुछ पासपोर्ट वगारा दिखाना
पड़ता है
टिकट वालों ने पूछा पासपोर्ट किधर है ?
मैं बोला भंनचोद
मुझे टिकट मंगता है

उन लोगों ने वापस मणिपूर भेज दिया
पुलीस कमिशनर ने पूछा बर्मा काय को गया था ?
मैं बोला अबे लौंडी के बच्चे
इण्डिया में रक्खा ही क्या है !

●

[इस बीच में सतीश कालसेकर आदि कवियों ने 'आरंभ' प्रकाशित किया। दि० के० वेडकेर ने सतीश कालसेकर की कविता का अँग्रेज़ी अनुवाद करके शिमला में 'इंस्टिट्यूट ऑफ़ एडवांस्ड स्टडीज़' में पढ़ा। वह संग्रह अभी मेरे पास नहीं है; उन कविताओं को भी देना चाहता था। नारायण सुर्वे नामक मज़दूर कवि के दो संग्रह इस बीच में छपे।

'ऐसा गामी ब्रह्म' ('अजी मैं ऐसा ब्रह्म हूँ'), संग्रह (प्रकाशन : दिसम्बर, १९६२) को महाराष्ट्र सरकार का वार्षिक पुरस्कार मिला। उसकी कई कविताओं के अनुवाद मैंने किये थे, जो कई जगह से हिन्दी पत्रों से लौट आए। वे 'युयुत्सा' के पास दो साल से पड़े हैं। नारायण सुर्वे की तीन कविताएँ दे रहा हूँ। पहली 'मेरी माँ' इस संग्रह से है। दूसरी दो 'माझे विद्यापीठ' (मेरा विद्यापीठ) से हैं :]

: १ :

मेरी माँ

जब तारे बुझने लगते हैं
ऊँचे भोंपू बजने लगते हैं
(मिल के) भोंपू की दिशा में मुड़ते हुए
रोज भक्तों की भीड़ चलती जाती है
जल्दी से पैर उठाकर
पीछे मुड़कर देखती हुई
ममता से कहती थी
'किसी से लड़ तो बैठना नहीं'
ऊपर से दो पैसे देती थी

दशहरे के पहले दिन
पाँच (बच्चों) को साथ लेकर
हमें सारा तमाशा दिखाती
सारे (मिल के) खातों में घुमाती
कितनी मजा-मजा थी
शब्द पंगु हैं
पेपेटे, चक्री खरीद देती
बैलूनों के पतंग पीकर
हम पक्षी बन जाते थे

एक दिन क्या हुआ
उसे गाड़ी में लाये
उसकी आँखें खुली थीं
मुँह से खून वह रहा था
उसकी साथ की मजदूरिन सालू ने
मुझे पास लेकर कहा—'बच्चे'
हम चुपचाप देख रहे थे
अपना छत्र खोज रहे थे
हम माँ को खोज रहे थे

उसी रात को हम पाँच बच्चे
एक-दूसरे से चिपटकर
माँ की ममता ही मानकर
अपने ऊपर चादर लपेट ली
पहले ही कुछ नहीं था
अब माँ भी नहीं रही
अश्रुओं की अर्गला लगाकर
रात भर जाग रहे थे
हम पूरे कलंदर बन गये थे

●

(माझे विद्यापीठ, १९६६ में से)

: २ :

नेहरू गये तब की बात

[यह कविता दिलीप चित्रे द्वारा सम्पादित 'मॉडर्न मराठी पोइट्री' में सुर्वे की एकमात्र कविता है।]

पीठ सेंकते हुए बैठे मकानों ने दरवाज़े कुछ खुले किये
शहर कैसा भूरा होता चला गया
फिर अंजीर के रंग का
आगे···अँधेरे ने लाल मणि लील लिया।

पत्थर के 'गाउन' पहने कारखाने
चिरूट सिलगाकर
विचार में डूब गये।
बाद में···
गीला कमीज़ कन्धे पर रखकर
कोठरी की ओर मुड़ गये।

'क्या हुआ ए सुन्द्री···!'
—'आज लोबान मत जला! ···नेहरू गये!!'
'सच; तो चलो आज छुट्टी!···'
श्रम सहनेवाली दुनिया खटिया पर लेट गयी।
मैं उदास खिन्न होकर चल रहा था
रास्ते भयानक लगते थे
कागजी खोल में प्रकाश लेकर चलनेवाला हाथ-
गाड़ीवाला
मैंने पूछा,
"यह प्रकाश अब क्यों ले जाते हो?"
"वाह जी;
आगे अँधेरा दाँत दिखला रहा होगा,"
नेहरू गये तब की बात!

: ३ :

जी-हुज़ूरे

(मुसाहिब)

शहर गरम होता है तब समर्थ शब्द सेंका जाता है
होंठों-होंठों पर गूँथा जाता है
आगे की पीढ़ियों को बुलाया जाता है;
खुशामद करने वाले शब्द फिर उसके जी-हुज़ूरे हो
जाते हैं
दरवाज़े पर 'साइनबोर्ड' लगाकर शास्त्र कहते हैं
उनकी राह पूछकर आनेवाले को रोकते हैं—

ऐसे भलाई ओढ़े हुए शब्द
प्रतिदिन मुझे मिलते हैं
ग्रंथ-ग्रंथ में···

●

['अभिरुचि' फिर १९६६ में पु० आ० चित्रे बम्बई से प्रकाशित करने लगे। अप्रैल के (तीसरे) अंक में शान्ताराम रामचन्द्र शिंदे की कविता, 'तीन तालियाँ', नट-बाजीगरों की बोली का आधार लेकर लिखी गई हैं—कम-से-कम शब्दों में—उसका एक अंश:]

नाचो रे नाचो
खत्म जब ज़ुल्म
आनेवाला है आनेवाला है

राम का राज!
इसकी जय बोलो
विसकी जय बोलो
चंदन के पेड़ पर
ज्वार का दाना!

नोट ही नोट
पैसा हुआ झूठा
सबके लिए खुल गई
जन्नत की वाट

हुई एक्के हुई
थुई दुणे थुई
रेंगते हुए पेट को
काफी नहीं भूमी

आ गया रे आ गया
आनेवाला आ गया
थाली में कुछ भी नहीं
(फिर भी) ताली में कब कमी की?

●

[१० सितम्बर, १९६७ को दैनिक 'महाराष्ट्र टाइम्स' के रविवासरीय में तीन रविवार तक 'चालू कविता' दो-दो पूरे पृष्ठ, कवियों के फोटो के साथ छापी गई और उस पर चर्चा भी : दिलीप चित्रे, (प्रो०) व० दि० कुलकर्णी के लेख आदि तीसरे अंक में। यह आयोजन शंकर सारडा ने किया। यह पूरी चर्चा मनोरंजक थी। इस सारे प्रकाशन में से एक कविता तुलसी पर (जन्म १९४१) की ज़ोरदार थी। उसका अनुवाद नीचे दे रहा हूँ। यह 'मारूड' (अर्थ उल्टबंसिया) नामक छोटी पत्रिका में जून १९६७ में छपी—]

वह। तू। हम। सब

वह। तू। हम। सब
पक्षी। बौर में पक्षी—अस्तचल—उनमें से
पेड़ों की छायार्तता। विषण्ण रात ।
निर्विकार दुख में फूलों के बुझते हुए गाने।
उन शहरों के प्रचण्ड 'गेटवे' म्यूजियम्स।
पक्षी, पक्षियों का उड़ना गेटवे के समुद्र के पार।

वीर। जवान। सूर्यसन्मुखता रेगिस्तान में जिनकी संगत
वे। रेल्वे रूल के पास के चमकदार हरे सिग्नल।
दुर्घटना में भयानक भूत रेल्वे मंत्री दिल्ली दूर है।

शहर से नाता बतानेवाली दस दिशाएँ। करोड़ों-
अरबों-
खरबों के पार अन्तरिक्ष। स्लम का त्रास
समुद्र की आदतवालों को होता है। समझकर
अनारंग—बिनारंग—
सब रंग छक्के-पंजे चोरों-वोरों को भी। हफ्तेबाज
पुलीस।
सर्वगमनी रांडें। दादा—वेश्यापूरित बजबजाहट—
बकबकवाले।

निरीश्वरवादी—सर्वेश्वर—अमीरी के दार्शनिक।
खाली झोली बिहार के भूक-बलि की। पाउंड और
सुवाच्य रिल्के। कविता का अजरामर शव मेरी
अभारतीय ममी में।
शाम को डूबता साम्राज्य—मैंने गाये हुए सूर्य-पुष्प-
सूक्त
तुम्हारे प्रतिबिंब—डूबने से पहले—गिनकर रखे हुए
शब्दों के
अर्थ अनिर्वाच्य शान्ति में से—निष्प्राण टेलिग्राफ के
खम्भे के साथ
बची है अभी तलछट—हुंकार की अभी आदत नहीं
हुई है—तुममें
मुझमें—सबमें मसाला भरने वाली कविता में भी।
फिर भी बढ़ता है
शहर का अस्तित्व। विधानों का अर्थ। चेहरा
पहचान के लिए। हाथ-पैर अनावश्यक, महापुरुष
को—मुझे। सामर्थ्य को
नहीं चाहिए चिह्नों के बाँध, उलांघकर जा सकते हैं।
उलाँघकर जाते हैं
वर्षा में—घाम में—जाड़े में और अन्य सबमें—
पक्षी—
रात—दुःख फूल—'गेटवे'—म्यूजियम्स—जवान—
सिग्नल—भूत—दिशा
अन्तरिक्ष—स्लम—छक्के पंजे—पुलीस—राँड—
निरीश्वरवादी—अमीर
झोला—पाउंड—रिल्के—शवसाम्राज्य—अस्त
तू—तेरे प्रतिबिंब—शब्दों का अर्थ—शान्ति—टेली-
ग्राफिक—बैठा हूँ
हुंकार करता हुआ—तुझमें—मुझमें—फिर भी
बढ़ी।
अस्तित्व—अर्थ—चेहरा—बाँध—महापुरुष—
घाम—वर्षा—
जाड़ा और सब काला—काल
की सर्वंकष सत्ता के आगे तू। हम। सब ॥ और सर्वस्व ॥

●

'चालू कविता' पर दिलीप पुरुषोत्तम चित्रे ने 'पर्दे पर, पर्दे के पीछे, और बाद में' नामक लेख (महाराष्ट्र टाइम्स, १७ सितम्बर १९६७) में इस युवालेखन के विद्रोह का श्रेय 'शब्द' नामक लघु-पत्रिका को दिया, जो १९५४-५५ में प्रकाशित हुआ था। उसके बारे में चित्रे लिखते हैं :

"उस समय अरुण कोलटकर, बंडू वझे, रमेश समर्थ और मैंने मिलकर 'शब्द' नामक कविता का साइक्लोस्टाइल

मासिक शुरू किया। हमें मॅनिफेस्टो या निश्चित कार्यक्रम नहीं था। अरुण और बंडू बेकार थे, रमेश मजदूर-यूनियन में स्टेनोग्राफर-टाइपिस्ट था और मैं मैट्रिक की परीक्षा में बैठा था। स्टेनो-टाइपिस्ट और आर्थिक दृष्टि से सम्पन्न होने से रमेश समर्थ 'शब्द' का सम्पादक और मैनेजर था। अंक छपाना, स्टेपल करना, डाक में डालने का काम हम दोनों करते थे।

"'शब्द' के पुराने अंक देखने लायक हैं: पु० शि० रेगे, विंदा करंदीकर, शरच्चन्द्र मुक्तिबोध, सदानन्द रेगे, इंदिरा, वसन्त बापट, मंगेश पाडगाँवकर, यह सब तब के प्रतिष्ठित लेखक 'शब्द' में लिखते थे। उसमें पुराने रंगपति भी कई थे।··· भाऊ पाध्ये की भी कविता छपी है। चित्रकार बाबूराव सडवेलकर और भाषा-शास्त्रज्ञ अशोक केलकर ने भी उसमें कविता लिखी थी। 'शब्द' का फिर १९६० में जन्म हुआ, तब अशोक शहाणे, वृन्दावन दंडवते, सुधीर कोलटकर, भालचन्द्र नेमाडे उसमें लिखते थे।···

"शब्द के बाद अशोक शहाणे ने 'अथर्व' पत्र चलाया। वह बन्द हो गया। तब मैं इथियोपिया में था। फिर तीन-चार वर्षों में प्रधान का 'मारूड', राजा ढाले का 'आत्ता' (अभी) और 'भेरू' और सतीश कालसेकर का 'फक्त' निकला। राजा ढाले प्रकाशन ने 'गोदी' नामक दीर्घ कविता हाल में प्रकाशित की है और 'व' नाम की लघु-पत्रिका घोषित की है। ऐसे ही आन्दोलन इलाहाबाद, कलकत्ता, हैदराबाद, अहमदाबाद, दिल्ली में चल रहे हैं। एक तरह से शहरी कवियों की एक नयी जमात आगे आ रही है।"

आगे चलकर इन सब साहित्यिक आन्दोलनों का जनक अशोक शहाणे को माना गया है। वह 'बीट ऋषि ॲलन गिन्सबर्ग का प्रत्यक्ष चेला रहा' यह भी कहा गया है। बँगला से शहाणे ने बहुत-से अनुवाद किये हैं और 'मारूड' के सम्पादक के शब्दों में वह 'मठाधिपति' हैं।

इस लेख में वर्णित 'गोदी' की एक प्रति साथ है। यह एकदम 'एबण्ड' हैं। पृष्ठ ९ और १५ देखिए। कवि गोदी (डाक-यार्ड) का मज़दूर है।

'आलोचना' छह वर्ष से मासिक रूप में चलने वाले पत्र के जून १९६८ के अंक में श्री पुरुषोत्तम शिवराम रेगे का २१ एप्रिल १९६८ में भोपाल के महाराष्ट्र समाज में दिया गया "काव्य की समझ" भाषण छपा है, जिसका एक अंश यों है:

"आज का बहुत-सा तथाकथित दुर्बोध काव्य केवल अनुभव के अनुभवत्व पर अकारण बल देने से वैसा हुआ है। इसमें बहुत-कुछ दिखावा (एक्ज़िबिशनिज़्म) है। गोदीवर काव्य लिखते हुए किसी खोखे के ऊपर के चिह्नों या ट्रक-नम्बरों की सूची देकर अलग-पन लाने का यत्न है। कोई दूसरा बस में से जाते हुए जितने दुकानों के साइनबोर्ड आते हैं उनकी ही सूची सुनाता है। इस प्रकार की अनुभूति का कोई अर्थ होगा ही नहीं ऐसा नहीं कहा जा सकता। पर वह कई बार कविता में आकार ही ग्रहण नहीं करती। और कोई कवि अशिष्ट शब्द या क्रिया जानबूझकर लिखता है। उत्कृष्ट काव्य में ये उल्लेख न हों या अब तक नहीं आये हैं यह बात नहीं है। तुकारम ने 'भले तेरी देइं गांडीची लँगोटी' (अच्छे को हम अपनी···की लँगोटी भी दे देंगे) कहा था। पर उसकी उत्कटता और अनिवार्यता इन नये कवियों में नहीं दिखाई देती। इन्हें 'शिष्ट' 'अशिष्ट' विशेषण ही मान्य नहीं हैं। प्रेम-भंग का अनुभव व्यक्त करते हुए जब कोई कवि एक कविता में दो बार पेशाब करता है, तब वह यह उल्लेख केवल फैशन के नाते कर रहा है, यह स्पष्ट है। वैसे देखा जाए तो प्रेम में सफल व्यक्ति से भी यह प्राथमिक शारीरिक क्रिया कहाँ छूटी है! और शरीर-शास्त्र की दृष्टि से प्रेम-भंग से अत्यन्त संत्रस्त मनःस्थिति में ये उत्सर्जक क्रियाएँ रोकी जाती हैं यह ज्ञान शायद कवि को नहीं है!) पाठक को धक्का देना और अपना नयापन स्थापित करने का भी यह उद्योग होता है। ऐसा काव्य न दुर्बोध होता है, न अश्लील—वह निरर्थ, निर्बीज होता है। उसमें काव्य ही नहीं होता।"

●

अन्तिम उद्धरण मैं भालचन्द्र नेमाडे की 'वाचा' नामक लघु-पत्रिका के एक अत्यन्त स्पष्ट, निर्भीक, जोरदार लेख के प्रथम और अन्तिम पैरा से करना चाहता हूँ। इस प्रकार से इस उद्धरण-बहुल लेख से मराठी के युवा विद्रोह की कुछ कल्पना आ सकेगी, यद्यपि गद्य के लिए दूसरा लेख अपेक्षित है।

लेख का शीर्षक है "आजकल लेखक का लेखक साहब क्यों बन जाता है?"

"नये-पुराने लेखकों ने और अड्डे-अड्डे से एक-दूसरे का खोखलापन-उथलापन और अप्रामाणिकता सिद्ध करते रहना यह नये मराठी साहित्य की एक आवश्यक बीमारी हो गई है। गये डेढ़ सौ वर्षों से अंग्रेज़ी द्वारा हमारे साहित्य के पुनरुज्जीवन के बदले नुकसान ही ज़्यादा हुआ है। पुनरुज्जीवन के लिए आवश्यक विद्वत्ता और बुद्धिमत्ता जिनके भीतर है ऐसे तेजस्वी लेखकों की एक टोली पैदा हुए बिना साहित्य को यह जूठन-उधारी पचाने की ताकत नहीं मिलती। और साहित्य सही मानों में उगता-पनपता नहीं। अपने-आपको युगप्रवर्तक कहकर दिल्ली में हर साल जाकर पद्मश्री ले आने वाले बौने-बुच्चे लेखकों ने यह सिद्ध कर दिया है। इसलिए या तो हमारे समाज में विद्वत्ता या बुद्धिमत्ता नहीं है, और हो भी तो वे लोग लिखने में रस नहीं लेते हैं, यही कहना पड़ता है। फिर लिखने वाले कौन हैं? अगर हमारे साहित्य का घटियापन उथलेपन और अप्रामाणिकता में से उपजा है तो ऐसे लेखकों को समय रहते ही दोष क्यों नहीं दिया जाता? साथ ही इस प्रकार का साहित्यिक बुद्धूपन मराठी के अलावा और भारतीय भाषाओं में भी पाया जाता है, कम या अधिक प्रमाण में, ऐसा इतिहास कहता है। तो इस सार्वत्रिक अवमूल्यन का कारण क्या है? मैं कुछ विश्लेषण यहाँ प्रस्तुत करता हूँ..."

बाद में लेखक व्यापारी वृत्ति का बढ़ते जाना, बड़े-बड़े प्रोफेसर और विभागाध्यक्ष और 'सरकारी' लेखकों की वसीलेबाज़ी और जातीयता-भाईभतीजावाद की खूब निन्दा करता है। एक बड़े आदमी ने इस अध्यापक-लेखक को लिखा कि 'फलाँ' आलोचना अच्छी लिख दो—"a good job in future depends on that"। संक्षेप में साहित्य के क्षेत्र में—सजन और आलोचना दोनों में—बहुत छोटे दिल के और घटिया लोग घुस आये हैं, यह कहकर अपने ११ पृष्ठ के लेख के अन्त में नेमाडे लिखते हैं:

"सद्भाव से आज भी कहीं-कहीं लिखने की अवस्था को खास आदि लेखक और पढ़ने की अवस्था में सच्चे पाठक यह दो खिन्न व्यक्ति भौतिकता के युग में भी किसी तरह जीवित हैं, यह अनुभव होता है। नहीं अन्यथा हम सब विकासशील मानवी समाज के सुखलोलुप नागरिक हैं। आदि लेखक का तेज क्वचित कभी किसी नई किताब में दिखाई दे जाय तो बस उतना ही मिलता है। अन्यथा वह उग्र, प्रचंड लेखक अब नाम शेष होता जा रहा है। एक और वन्य पशु नष्ट हो रहा है। प्रकृति को वह नहीं चाहिए। उसकी रक्षा करो और सप्ताह मनाओ। पोस्टर लगाओ। टिकटें खरीदो। preserve wild life. ●

तेलुगू की दिगम्बर पीढ़ी : एक ऐतिहासिक आवश्यकता

निखिलेश्वर

राजनीति की आड़ में जब जीवन का हर क्षेत्र भ्रष्ट होता जा रहा है, राजनेताओं के भस्मासुर अस्त्रों के नीचे जब सारी व्यवस्था झुलस रही है, साहित्य और धर्म के ठेकेदार जब जड़ता और मरणोन्मुख सामंती ढाँचे को पुनःस्थापित करना चाह रहे हैं, कला और बुद्धि के अभिनेता जब पैसे के लिए बिक रहे हैं—तब इस दशक के एक युवावर्ग में एक आत्म-परिशीलन, एक आंतरिक अन्वेषण का प्रादुर्भाव हुआ। ढहते हुए विश्वासों की इस शताब्दी में नित्य सचेतन आत्मा की स्फूर्ति उभरकर आई। भारत में भारत के लिए इस मिट्टी की गंध लिए इस मिट्टी की ग्लानि और क्रन्दन के लिए एक पीढ़ी फूट-फूटकर अपनी कविताओं में बिलख पड़ी। वही एक ऐतिहासिक संदर्भ था। उसी संदर्भ में ६ मई १९६५ के दिन एक नई पीढ़ी का जन्म हुआ। 'दिगम्बर कवुलु' के नाम से तेलुगू साहित्य में नया संवत् प्रारम्भ हुआ। वही दिगम्बर शक है। "हम दिगम्बर कवि हैं" "हमारी दिगम्बर कविता है।" यह दिगम्बर कविता आंदोलन है इस आत्मविश्वास से इस दिगम्बर पीढ़ी का उद्‌घाटन एक रिक्शेवाले के हाथों हुआ।

दिगम्बर पीढ़ी एक ऐतिहासिक आवश्यकता है। क्यों और किसलिए ?

इसलिए कि सारा भारतीय समाज एक महान् आंतरिक कोढ़ से ग्रस्त है।

इसलिए कि राजकीय नेता, धर्म के आचार्य और बाबा-गण, विविध साहित्य-व्यापारी पत्रिकाएँ, सिने-जगत् के निर्जीव तारे, वादों के पीछे दुम हिलाते हुए भागने वाले में कथाकथित बुद्धिजीवी—ये सब इस देश को खोखला बना रहे हैं।

इस खोखलेपन को, षड्‌यंत्र को स्पष्ट रूप से दिखाकर भारतीय युवा-वर्ग को सचेतन करने के लिए दिगम्बर कविता का उद्‌घोष हुआ।

आज़ादी के इन बीते हुए वर्षों में बहुत बड़ा मोह-भंग हुआ है। मानसिक दिगम्बरता में स्वयं का दर्शन करने पर उस दर्शन की गहराई में चले जाने पर एक तीखा सत्य सामने खड़ा हो गया है, क्रमशः ये सत्य :

हमें धर्म विफल बना चुके हैं।
हमें राजनीति विफल बना चुकी है।
राष्ट्र विफल बना चुके हैं।
वाद विफल बना चुके हैं।
हम सब खो गये हैं—

खोये हुए हमको फिर से पाने के लिए क्रान्ति की ज्वाला भड़कानी होगी।

कुचले हुए साधारण वर्ग के मनुष्य के जीवन के लिए संघर्ष करना होगा।

हर एक व्यक्ति को हर क्षेत्र में विद्रोही बनकर नये जीवन का सूत्रपात करना होगा—

इन आशयों से दिगम्बर कवि साहित्य द्वारा अपना प्रखर विद्रोही स्वर लिए सबके सामने हैं।

यदि उक्त बातें केवल कोरे नारे लगाती हैं तो दिगम्बर कवि हर युवक से कहता है कि स्वयं सोचकर खुद का रास्ता निकालो।

'दिगम्बर कवुलु-२' की पृष्ठभूमि में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि हमको ऊलजलूलपन की शून्यता में विश्वास नहीं है।

इस भूगोल पर जब तक गरीबी और भूख लिपटी रहेगी, तब तक मार्क्स के दृष्टिकोण को चुनौती देने का अधिकार किसी को नहीं है। व्यक्ति की स्वेच्छा समूह के मार्ग में कभी

रोड़ा न बने। लेकिन नियमों की निरंकुशता में, सिद्धान्तों के वक्रभाष्य में व्यक्ति को कठपुतली नहीं बनना चाहिए। ऐसी तानाशाही, जो व्यक्ति को यंत्र का पुर्जा बनाती है—कभी सहनीय नहीं रहेगी।

दिगम्बर कवियों का दार्शनिक दृष्टिकोण क्या है

मनुष्य की भौतिक इच्छा एक सच्चाई है। इस इच्छा के साथ मन का जो अवचेतन है—वह भी सच है। मानसिक एकाकीपन भी सत्य है। पर यही एकाकीपन मात्र अस्तित्व नहीं है। आसपास का वातावरण और पारस्परिक स्नेह से जीने में ही वास्तविक अस्तित्व है। तनाव ही मानवत्व की असली अग्नि-परीक्षा है। इस तनाव को झेलते हुए जीने वाला व्यक्ति ही यथार्थ मानव है। इस जीवन में हर घटना या वस्तु की सार्थकता तथा निरर्थकता दोनों हैं। आशा-निराशा के चक्र से मुक्त होने के लिए अपनी अन्तश्चेतना के अनुसार जीना ही एकमात्र मार्ग है।

इसी भावात्मक विश्वास के यथार्थ धरातल पर कोई भी आलोचक समझ सकता है कि कैसे दिगम्बर पीढ़ी—बीटनिक और भूखी पीढ़ी से भिन्न है।

जब १९६५ में यह आन्दोलन प्रारम्भ हुआ—इस पर किसी दूसरी पीढ़ी का या विदेशी आन्दोलन का कोई भी प्रभाव नहीं था—और अब कोई दूसरा प्रभाव है, नहीं। आधुनिक जीवन की पारस्परिक प्रेरणा या समानधर्मा विचारधारा यदि बहती है तो वह दूसरी बात है। स्पष्टीकरण के लिए और कुछ तथ्य ६ मई, १९६५ को आधी रात के समय हैदरावाद के आबिद रोड पर 'दिगम्बर कवुलु' प्रथम संकलन श्री नाम्पल्ली पांडू नामक रिक्शेवाले के हाथों प्रकाश में आया।

१८ दिसम्बर, १९६६ को आधी रात के समय ही विजयवाडा के गवर्नर पेठ सेंटर में दूसरे संकलन का विमोचन करने वाले थे एक होटल क्लीनर श्री जंगाला चिट्टी···

अब शीघ्र ही तीसरे संकलन का उद्घाटन विशाखा-पटनम् के किसी सड़क या गली में किसी कुचले गये इन्सान के हाथों ही होगा।

इन परम्पराहीन उद्घाटन-समारोहों का प्रधान आशय है—वर्तमान चापलूसी और आडम्बरपूर्ण असाहित्यिक पुस्तक विमोचन समारोह पर तमाचा लगाना और समाज के कुचले हुए और भूले हुए श्रम-जीवियों की विशिष्टता को दर्शाना।

नव जीवन के अन्वेषण में निर्भय, दिगम्बर चिन्तन की यात्रा में रूढिग्रस्त परम्परागत जीवन और समाज के सामने दिगम्बर कवि ने अपना संवत् चलाया है। उसी के अनुसार वर्ष छः—

वर्ष छः—

नग्ननाम सम्वत्सर
निखिलेश्वरनाम सम्वत्सर
ज्वालामुखि नाम सम्वत्सर
चेरबंड नाम सम्वत्सर
भैरवनाम सम्वत्सर
महास्वप्न नाम सम्वत्सर

ऋतुएँ छः—

आशा ऋतु
तपन ऋतु
अश्रु ऋतु
मदिरा ऋतु
विरहा ऋतु
विषाद ऋतु

दिनों के छः नाम—

स्नेहवार
विश्रृंखलवार
क्रान्तिवार
सृजनवार
विकासवार
अनन्तवार

इस नई पद्धति के साथ दिगम्बर पीढ़ी एक नए जीवन का सूत्रपात करती है।

बिना किसी जाति, रंग, वर्ण आदि के एक अनन्त मानव की कल्पना के साथ केवल मानववाद के आधार पर मानव के लिए नए आयामों के साथ जीते जाना ही उद्देश्य है। आने-वाली कास्मिक जाति के लिए अभी से इस संकुचित और कई प्रभावों से दूषित 'कंडीशंड' या अनुकूलित आदमी (व्यक्ति) को स्वच्छ बनाना है।

'दिगम्बर' नाम की वास्तविक परिभाषा

आन्तरिक नग्नता से नित्य सचेतन स्फूर्ति से आठों दिशाओं का मानव बनकर जीना। सभी संकुचित आवरणों का निराकरण। सभी परम्पराग्रस्त विभिन्न मज़हबों का निराकरण। सभी प्रवादी चालाकी, अधिकार-मद, धन-लोलुपता के विभिन्न वादों का निराकरण।

दिगम्बर कवि अब छः हैं। ये कवि पूर्वाश्रम में अपने निजी रूढ़िग्रस्त नामों से लिखते थे, पर जब दिगम्बर कवि बनकर उन्होंने पुनर्जन्म पाया तब से इन लोगों ने अपने जाति-कुल-धर्म को याद दिलाने वाले नामों के स्थान पर ही क्रमशः इन नए नामों से लिखना प्रारम्भ किया—

नग्नमुनि, निखिलेश्वर, ज्वालामुखी, चेरबंडराजु, भैरवय्या, महास्वप्न साथ ही श्री सुब्रह्मण्यम् नामक एक सातवाँ व्यक्ति है जो अपनी तीक्ष्ण दृष्टि से संचालक के रूप में पथ-प्रदर्शन करता है।

ये लोग अपनी कविता को 'दिक' कहने लगे हैं। 'दिक' का मूल उद्देश्य—रुग्ण मानव की रगों में कास्मिक किरणों को भरकर शल्यचिकित्सा करना ही है।

इस दिगम्बर काव्य यामा के बीते हुए इन चार वर्षों में आलोचकों ने इस कविता का मूल्यांकन करने की चेष्टा की। मुक्तछन्द में लिखी जाने वाली आधुनिक तेलुगु कविता का नाम 'वचन कविता' से 'दिगम्बर कविता' हो गया। कविता शिल्प में, बिम्बों में, अभिव्यक्ति में, शब्दों के प्रयोग में कई नये आयाम उभरकर आए। तेलुगू साहित्य में आधुनिक आलोचना का स्तर वैसे तो किसी भी प्रमाण का नहीं है—अतः एक-दो अपवादों को छोड़कर दिगम्बर कविता का सही मूल्यांकन हुआ ही नहीं है। श्री के० वि० रमणारेड्डी एकमात्र ऐसे निर्भीक आलोचक हैं जो दिगम्बर कवुलु के दो संकलनों पर एक विस्तृत आलोचना को 'सृजना' नामक साहित्यिक त्रैमासिकी में छाप चुके हैं। उनकी आलोचना गति तार्किक भौतिकवाद के आधार पर चलती है। इसलिए उनके भी अपने सीमित दायरे हैं। उसी तरह श्री डी० अंजुनेयुलु ने आधुनिक तेलुगू साहित्य पर अँग्रेज़ी में लिखते हुए 'दिगम्बर पीढ़ी' का साहित्यिक मूल्यांकन करने की कोशिश की है। वह लेख 'इण्डियन राइटिंग टु डे' नामक त्रैमासिकी में छप चुका है। तेलुगू में कई समीक्षाएँ और आलोचनाएँ इस पीढ़ी पर आईं, पर किसी के पास एक या दो के सिवा सहनशीलता और तह तक पहुँचने की क्षमता नहीं दिखाई दी।

'दिगम्बर पीढ़ी' की कविताएँ विशेषकर हिन्दी में अनुवादों के रूप में 'धर्मयुग', 'ज्ञानोदय', 'युगप्रभात' पत्रिकाओं में छपीं। दूसरे संकलन का घोषणा-पत्र भी 'धर्मयुग' में आया है। कुछ 'दिक' अंग्रेज़ी, बंगला, उर्दू, असमिया, उड़िया, मलयालम भाषाओं में भी रूपान्तरित हो चुके हैं।

दिगम्बर कवि केवल कविता-रचना तक ही सीमित रहना नहीं चाहते। वे लोग स्वयं को 'क्रियाशीलता' मानते हैं। इस 'क्रियाशीलता' के दौरान इन लोगों ने इस साल के प्रारम्भ में 'आन्ध्र प्रदेश साहित्य अकादमी' की नींवें हिलाकर रख दी हैं। इस अकादमी की सभा में दिगम्बर कवियों ने एक 'विचार पत्र' बाँटा था। उस 'विचार पत्र' का शीर्षक था 'आं० प्र० साहित्य अकादमी' की 'शव परीक्षा'। इस 'शव परीक्षा' को पढ़कर सभी तेलुगू साहित्य-प्रेमियों और कवियों के दिल में एक तूफान-सा उठकर रह गया। इन अकादमियों के अस्तित्व का प्रश्न ही प्रखर होकर गूँज उठा। अकादमी जो पंडितों का अखाड़ा, राजनेताओं का आश्रय-शिविर और ग्रेड स्तर की आलोचना-पुस्तकों का प्रकाशन··· अधकचरे साहित्य पर पुरस्कार—ये सभी दम्भ उभरकर आए।

इस साहित्यिक विवरण के बाद अन्त में एक बात कहना आवश्यक है। यह बात अब दिगम्बर कवि अपने तीसरे संकलन में स्पष्ट कर रहे हैं। कविता को हथियार मानते हुए अब इस मोहभंग और मूल्यहीनता के परिवेश में इस दशक की पीढ़ी को ललकारते हुए कहते हैं—

"अब समय आ गया है कि हम इस कृत्रिम ढाँचे को उखाड़कर फेंक दें। यदि व्यवस्था हिंसा और रक्तपात चाहती है, तो इसे रक्त भी देना पड़ेगा। इसी रक्तपात में से प्रेम और सहज मानव का प्रादुर्भाव होगा।"

'५० के लेखक, एस्टाब्लिशमेन्ट और खाली नाव

सन्दीपन चट्टोपाध्याय

'५० के एक-दो साल आगे-पीछे लिखना शुरू करने वाले कवि-कहानीकारों की उम्र ३५ होने जा रही है, किसी-किसी की शायद ३५ पार भी कर गई। लगभग १५ साल से सभी लिख रहे हैं, मगर अब तक जो कुछ भी दीख रहा है उससे साफ है कि एक सुनील गंगोपाध्याय को छोड़, लगता है, किसी का कोई भविष्य नहीं है। वड़े-बड़े पूजा विशेषांकों में '५० के लेखकों की कहानियाँ पिछले दो-चार सालों से छपने लगी हैं, कवियों के तो दस साल से छप रहे हैं। दरअसल **अलोकरंजन दास गुप्त** की कविता नवीं क्लास में पढ़ते समय मशहूर साप्ताहिक में छपते देखा है, यानी कवि और दर्शक दोनों ही हाफ़-पैन्ट पहनते थे। कॉलेज में दाखिल होने के बाद उसी साप्ताहिक में **प्रणवकुमार मुखोपाध्याय** की कविता देखी, प्रणव उन दिनों स्कूल में पढ़ रहा था। दूसरी ओर, महज छह साल पहले का 'देश', 'आनन्दबाजार', 'युगान्तर', 'वसुमती' या 'विचित्र'। इन सारे पत्रों के पूजा-अंकों में से किसी एक में भी **शक्ति** की कविता नहीं मिली। आज हरेक में मिलती है, हर पूजा अंक में, किसी-किसी बार शक्ति को 'कम्प्लिमेन्टरी' के तौर पर कम-से-कम ५० पूजा अंक मिलते हैं। शक्ति भी कुछ कम पन्द्रह वर्षों से लिख रहा है।

सुनील की बात मैं छोड़ ही रहा हूँ, उसकी किताब की संख्या साल-भर पहले भी एक थी, इसी बीच आधे दर्जन तक पहुँच गई है। बाकी यशःप्रार्थियों में कवि और लेखक मिलाकर बहुत कम भी लिया जाय तो कम-से-कम ४० लोग बचते हैं। कवियों की तो फिर भी एक-एक किताब है, अब बहुतों की दो-दो हो गई हैं। मगर गद्य-लेखकों की क्या हालत है? केवल दो ही लेखकों के एक-एक कहानी-संग्रह है—दोनों ही 'ऑबसोलीट' हो गए हैं, कोई नहीं खरीदता, किसी शोकेस में भी नहीं है। किसी-किसी लाइब्रेरी में रह सकती है, मगर 'इश्यू' नहीं होती। यह एक सचाई है। यही हाल है **मति नन्दी** के माणिक स्मृति पुरस्कार प्राप्त उपन्यास का। **श्यामल गंगोपाध्याय** के दो-दो उपन्यासों का ही क्या हुआ? **बरेन गंगोपाध्याय, कविता सिंह** इनके भी एक-एक उपन्यास छपे थे; एक क्यों, दो-दो उपन्यास छपे थे, **दीपेन्द्रनाथ बन्द्योपाध्याय** ने भी उपन्यास लिखा था—फिर कभी अगर इन लोगों की किताबें छपें तो 'लेखकों की अन्य कृतियाँ' की सूची में इनके नाम मिलेंगे। फिर भी, '५० के लेखकों के पास कहने को कुछ भी नहीं है। दीपेन को छोड़कर इन सबकी कहानियाँ आगे-पीछे नामी-गिरामी पत्रों में छपी थीं। **शीर्षेन्दु मुखोपाध्याय, बरेन गंगोपाध्याय, दिव्येन्दु पालित** या **शंकर चट्टोपाध्याय**—इनकी बहुत सारी कहानियाँ लगातार और साल-दर-साल डेढ़ लाख प्रतियाँ छपनेवाले अखबार के रविवासरीय अंकों में या 'देश' में छपी हैं। 'अमृत' में छपी हैं, 'उल्टो रथ' में छपी हैं। कहाँ नहीं छपीं। 'परिचय', 'एक्षण' आदि 'लिटिल मैगज़ीनों' के पन्ने उलटते ही दीखेगा कि वहाँ भी, साल-दर-सालों से, वे ही साहित्यकार हैं। फिर भी, इन पन्द्रह सालों में, इनके कहानी-संग्रह छापने के लिए छोटा या बड़ा कोई भी प्रकाशक आगे नहीं आया। कविता, मति या दीपेन का उपन्यास अगर किसी तरह किसी ने छापा भी तो वह बिका नहीं। सुनील का उपन्यास 'आत्मप्रकाश', 'देश' के पूजा अंक में छपा—नामी प्रकाशक ने उसे प्रकाशित किया—सुनील ने नाम भी कमाया, हर हफ्ते उसकी तीन से चार रचनाएँ बहुत-से बहुलतम प्रचारित पत्रों में छपती हैं, फिर इतने सालों से कवि और 'कृत्तिवास' जैसे पत्र का सम्पादक—वास्तव में चाहे व्यावसायिक हो या अव्यावसायिक, दोनों ही खेमों में सुनील की तरह इतनी 'पब्लिसिटी' और प्रश्रय '५० के किसी और को निश्चित तौर पर नहीं मिला—किताब का विज्ञापन

भी काफी किया गया था, मगर सात दिन में नया संस्करण तो नहीं छपा ? सात महीने में भी नहीं। 'आनन्द बाजार' के होली अंक में मति का 'द्वादश व्यक्ति' छपा, इस उपन्यास को छापने के लिए छोटा, बड़ा, मझला कोई भी प्रकाशक सामने नहीं आया।

कविता-पुस्तक या कवियों की बात हालाँकि अलग है। साधारण तौर पर बंगाल के कवियों की मृत्यु नहीं होती। यहाँ तक कि '३० के कवियों में भी अब तक मात्र **जीवनानन्द दास, सुधीन दत्त** और **समर सेन** के अलावा सभी जीवित हैं। **कामाक्षी प्रसाद चट्टोपाध्याय** भी 'पूजा अंकों' में लिखते चले जा रहे हैं। '५० के कवियों ने स्वेच्छा से लिखना छोड़ दिया था केवल **तन्मयदत्त** और **युगान्तर चक्रवर्त्ती** ने। आठ-दस साल इन्होंने कुछ भी नहीं लिखा, एकदम कुछ भी नहीं, उसके दस साल बाद एकाएक रेडियो पर कविता पढ़ने के लिए युगान्तर को बुलाया जा रहा है। तन्मय की तीन कविताएँ फिर छपते देखीं। मगर क्यों ? दरअसल, बंगाल में कवियों की मृत्यु नहीं होती। '५० के कवि लोग तो महज पन्द्रह साल से लिख रहे हैं, और भी ३०-४० साल इनकी कविताएँ छपेंगी, इसकी उम्मीद की जा सकती है। जब तक रचनाएँ छपती हैं, तब तक लिखा जा सकता है। कम-से-कम पूर्वोक्त तीन कवियों को छोड़ '३० के सारे लोगों ने वही किया। फिर कवियों के लिए कोई 'स्टेक' भी तो नहीं है। कविता लिखकर दस रुपये मिलते हैं, पन्द्रह मिलते हैं—और कितने ? प्रति पंक्ति एक रुपया, भला कम क्या है ! कविता अगर छह पंक्तियों की हुई तो (जो कि अक्सर होती हैं) रेट और भी अधिक बन जाता है। जैसे,

रजनीगन्धा की तरह
मुँदी रहती हो।

कविता दो पंक्तियों की है। यहाँ प्रति अक्षर ढाई रुपये। असली बात है कविता पर फिल्म तो नहीं बनती, थियेटर भी नहीं होता, कविता-पुस्तक की कीमत तो पन्द्रह रुपये नहीं होती—लिहाजा सम्पादकों की भी कोई दिक्कत नहीं है—कविता के लिए एक पृष्ठ, बस, हिसाब-किताब बैठ गया। लिखते रहने या छापते रहने में दिक्कत क्या है ? हालाँकि किसी-किसी पूजा-अंक में आधे फार्म की जगह छोड़ी जाती है। उसमें तीस कवि छपते हैं। पन्द्रह रुपये प्रति कवि के दर से साढ़े चार सौ रुपये बनते हैं, उसकी जगह एक कहानी छापने पर खर्च अधिक-से-अधिक पचास रुपये बैठता है—चार सौ रुपये की बचत होती है—किसी व्यावसायिक पत्र के मालिक ने इस ढंग से सोचा है यह कभी नहीं सुना। फिर तो सत्यानाश है।

वास्तव में भीड़ बढ़ ही रही है, घट नहीं रही है, '५० से जो लोग लिख रहे हैं उन्हें तो देख रहा हूँ अभी तक लिखते चले जा रहे हैं। जबकि **समरेस वसु** ने लगभग अकेले ही लिखा था, काफी नाम कमा लिया, जाने कितनी किताबों के चटपट संस्करण होने लगे। कहानी-संग्रहों के भी एक से अधिक संस्करण होने लगे। 'देश' में छपने से पहले ही।

'५० के लेखकों में से बहुतों ने सोचा था, अखबारों में नौकरी भी मिल जाए तो ठीक है। हकीकत यह है कि ऑनर्स-हीन बी० ए० पास लेखक हैं सारे-के-सारे, कोई आई० ए० तो कोई बंगला में एम० ए०। पढ़ाई-लिखाई में 'स्पेशलाइज' करने का मौका ही नहीं मिला। जिस समय 'चार्टर्ड एकाउंटेन्ट' होने के बाद **शरत कुमार मुखोपाध्याय** 'बिजनेस एफिशियेंसी' पढ़ने लन्दन चले गये, बाकी सारे लोग उस समय सुबह सिकी हुई डबल रोटी खाकर लिखना तथा शाम को काफी की टेबुल पर 'लेखकों की नौकरी' यानी लेखन से सम्बद्ध अपरिहार्य अड्डेबाजी में दिन-पर-दिन शामिल हो रहे हैं—पेय का चरित्र जल्दी ही बदल गया, अड्डेबाजी आधी रात तक ढलती चली गई। हालाँकि लौटकर शरत ने फिर से कविता लिखनी शुरू कर दी। अब दूसरे लड़कों की हालत देखिए। सारे बी० ए० पास लड़के दो सौ की बाबूगिरी के अलावा उन्हें क्या मिलेगा ? तीस पार हो रहा है, देखकर ये लोग अखबारों में, रेडियो में या ताश—कहीं नौकरी लग जाए भला। ये नहीं सोचेंगे तो क्या करेंगे ? मगर वह कहा न, भीड़। बहुत अधिक भीड़ थी।

अमरत्व बहुत बड़ी बात है। नाम कमाने की बात लीजिए, कितने लोग प्रतिष्ठित होंगे एक 'जेनरेशन' में ? '५० के लेखकों में पाँच आदमी प्रतिष्ठित हों—यही तो काफी है। अमरत्व की नाव हमेशा छोटी होती है, एक-एक युग या 'पीरियड' में कितने लोग अमर हुए हैं ? अगर पचास हुए हों तो बाद वाले 'पीरियड' ने आकर उसे काटकर पाँच बनाकर बाकी पैंतालिस अपने आदमियों को भरा है। '५० के लेखकों को भी वही खाली नाव मिली थी, लेकिन हड़बड़ाकर सौ के लगभग युवकों के चढ़ने के कारण नाव-सहित, शक्ति चट्टो-

पाध्याय और विनय मजुमदार-सहित, पूरी नाव पन्द्रह साल में डूब गई। शक्ति हालाँकि कूद पड़ा था, एक डाँड़ पकड़कर कई साल तक तैरता रहा, बाद में हालाँकि शक्ति भी बाढ़ के पानी में बहता चला जा रहा है। किसी-किसी का कहना है विनय छोड़ने वाला लड़का नहीं है, नाव से लिपटकर वह ठीक पानी के नीचे लेटा है। देखिए क्या होता है। हालाँकि पानी अपने नियम से स्वच्छ हो जाएगा, यह तय है। कुछ भी हो इस घटना के साल-भर के अन्दर ही क्रुद्ध **दीपक मजुमदार** और वीतश्रद्ध **उत्पल कुमार बसु** दो प्लेन पकड़कर कलकत्ते के ऊपर से निकल गए। बाकी लड़के रह गए।

असल में '५० के लेखकों से यही गलती हुई थी। इन लोगों ने नरक का रास्ता चुना था। लिहाज़ा इन्हें मुखौटे, नकली बाल और तेज़ शराब की ज़रूरत पड़ी थी। मगर, जैसा कि जीवनानन्द की एक कविता में है, इसी में अगर इन्सान को मुक्ति मिलती, फिर तो कोई बात ही नहीं थी। फिर नकली बालों में कब किसे शक होता, या मुखौटा उतार-कर अपनी शक्ल के तमाशे से कौन खुश होता!

बात का ज़रा और भी खुलासा किया जाना सम्भव लगता है:

अनुभव पूरे होने पर आदमी की कोई स्मृति नहीं बचती, फिर दूसरी ओर, वह कुछ भी नहीं भूलता। पैराडाक्स? हाँ, ठीक वही। उसका जो कुछ रहता है वह है स्मृति की स्मृति, यानी 'इम्पोटेन्स', जिससे कोई काम नहीं होता। लेखन एक तरह का काम है। इस काम के लिए स्वाभाविक स्मृति की ओर कुछ पिछड़ जाने की कोशिश करनी पड़ती है। यह बहुत ही खतरनाक कोशिश है, दुर्घटनाग्रस्त होने की सम्भा-वना रहती है, क्योंकि यह असम्भव कोशिश है। असम्भव? हाँ। फिर भी इसी कोशिश का कुछ अन्दाज़ा लगाया जा सकता है। और एक ही चीज़ तो अब केवल जानने के लिए बाकी रह गयी है जिसका आज भी अन्दाज़ा लगाया जाता है वह सम्भव है या नहीं।

पता नहीं समझा पाया या नहीं। पूरा का पूरा परस्पर-विरोधी हो गया? वह तो थोड़ा होगा ही, कोई उपाय नहीं है, परस्परविरोधिता, द्वन्द्व या खींचतान—यही तो ज़िन्दगी है। जीवन में 'ऑथेन्टिक' कहकर कुछ भी नहीं है, फिर भी देखिए, जीवन की इस अगली सीढ़ी से 'ऑथेन्टिसिटी' की ओर पीछे हटना ही शिल्प है। यह एक असम्भव कोशिश है यह मैंने पहले ही कहा है—अक्षम कोशिश—किस तरह का अक्षम कहूँ? दीपक ने प्रथम सन्तान के जन्म से मृत्यु तक इक्कीस दिन जिस तरह की कोशिशें की थीं, यह कोशिश ही शिल्प है, कहीं भी 'डेलिबरेट' नहीं है—और उसके लिए ज़रूरत है अक्षमताजात कुछ की, जिसे प्रतिभा कहा जाता है—वही चीज़। हाय, प्रतिभा शब्द तक के प्रति '५० के लेखकों की 'एलर्जी' थी।

ये लोग कर नहीं पाये। ये सिर्फ़ कर नहीं पाये। मुखौटे से मुख की ओर, 'कनफ्यूज़न' से 'ऑथेन्टिसिटी' की ओर, नकली बालों से सम्भव पर कुछ पीछे आने की असम्भव कोशिश, ये नहीं कर पाये। वह कुछ गलत नहीं हुआ। मगर जिसे क्षमा नहीं मिली वह रहा वह मुखौटा, नकली बाल या तेज़ शराब के साथ इनका 'एमेचर' या नाबालिग सरीखा 'कम्प्रोमाइज़'।

ये लोग इसीलिए गड्डमड्ड हो गये।

कई दिन पहले श्याम बाज़ार में अकेले शक्ति के साथ मुलाकात हुई। उस समय रात आधी जा चुकी थी, मोड़ की कषामांस की दुकान बन्द हो चुकी थी। कुशलक्षेम के बाद एक डाकबक्स के बगल में हम लोग थोड़ी देर तक खड़े रह गये। थोड़ी देर पहले ही काफी बारिश हो चुकी है, इसीलिए डाकबक्स सुर्ख लाल था। जब मैं और शक्ति कुछ दिनों के लिए चाँइबासा के 'फ़ारेस्ट बँगलों' में थे, उन दिनों हम लोग भीख माँगकर खाते थे। अचानक कोई हिरणी 'फ़ाल्स' में पिकनिक करने आये हैं पता चलते ही, बाद में जाकर उनके जूठन उठा लाते थे। वहीं 'गोल्डफ़्लेक' के टुकड़े मिलते थे। एक दिन एक ठोंगा खुशबूदार चाय मिली थी। राही ओरॉवों से हम खाना माँग लेते थे। हम लोगों ने पूरा एक दिन अमरूद खाकर बिताया था। इस्माइल के ट्रक पर चढ़कर किसी दिन खूँटी के बाज़ार या टोबो चले जाते थे। टोबो के बाज़ार में लगभग मुफ्त में महुआ मिल जाता था। खूँटी में जुआ खेलने जाता था। चक्रधरपुर से दिन में दो बार ट्रक लाता था इस्माइल खाँ, जंगल से लकड़ी भरकर लौट जाता था। पहाड़ के ऊपर के बँगलों से नीचे इस्माइल का ट्रक मक्खी की तरह दीखता था। गूँज तभी से सुनाई पड़ती थी। रात को एक ही कम्बल तानकर निवाड़ के खटिये पर लेटे रहते थे। आज कुशलक्षेम के बाद थोड़ी देर की चुप्पी, फिर 'चलूँ भाई' कहकर शक्ति उल्टोडांगा की ओर चला गया।

पिछली बागमारी घटना के दिन कलकत्ते में कर्फ्यू था, काफी जल्दी, साढ़े दस बजे के अन्दर ही मैं और सुनील घर लौट रहे थे। बाँगुर कॉलनी तक जाकर मुझसे नहीं रहा गया। किसी तरह सुनील से कहा, "तबियत बहुत खराब लग रही है।" "ठीक है, घर जा सकेंगे न, कोई दिक्कत तो नहीं होगी?" पूछकर सुनील उसी बस से चला गया। फुटबोर्ड से कै करते-करते मैं रास्ते में उतर आया। कितनी देर बाद मैं नहीं जानता। अचानक मैंने पाया कि एक पेड़ का तना पकड़कर मैं अकेले खड़ा हूँ।

यह तो रही सुनील और शक्ति की बात। दीपक का खत बहुत दिनों से किसी को नहीं मिला। कुछ-न-कुछ करके ही लौटेगा, लगता है। पिछली ५ मई के खत में उत्पल ने लिखा है, "कविता के मामले में सम्पूर्ण उदासीन हूँ।" ओड़िसावासी पाइलट सुरनाथ किसी गुप्त कारणवश जर्मनी से निकल आने को मजबूर होते हैं और गुजरात के पटेल जिनकी पत्नी युगोस्लाव है—गुजरात के पटेल केनिया में जिनका घी का कारखाना है जो इन्दोनेशिया में बिकती है और जिसके पिताजी आनन्दमयी माँ के शिष्य हैं और उत्तरपाड़ा के रजनीबाबू हर हफ्ते जो कलकत्ते से 'युगवाणी' मँगाते हैं और एक दिन देवज्योति दा ने (जाने क्या नाम था उस किताब का) जिससे एक किताब माँगकर हफ्ते भर में सारा का सारा पढ़कर लौटा दिया था—इनके साथ ६० नम्बर चेस्टरटन रोड, लन्दन, डबलू टेन में उत्पल कैसा है इसके बारे में मैं विस्तार से नहीं जानता। मगर 'लैण्ड-स्पेकुलेशन' कर-करके श्यामल खास मज़े में नहीं है। 'आनन्दबाजार' के 'फीचर राइटर' के कमरे में साथ के टेबुल पर चुपचाप काम करते हैं मति और सुनील। इन दोनों को मैं भलीभाँति जानता हूँ। ये भी सम्भवतः खास मज़े में नहीं हैं। लगता है वहाँ वे 'पोस्टेरिटी' से अभी भी काफी दूर ही बैठे हैं। या, शायद मैं 'बायनाकूलर' उलटकर देख रहा हूँ। हो सकता है।

'५० के लेखक आज बहुत ही 'अनहैपी' हैं। इनमें से कोई मज़े में नहीं है यह मैं जानता हूँ। जबकि '५० के लेखकों का जीवन विचित्र था, आधुनिक जीवन का स्वाद इनमें से किसी-किसी को मिला था। अपने जीवन से वह स्वाद उन्हें मिला था, विदेशी साहित्य के कम या अधिक अध्ययन से उन्हें वाकई फायदा पहुँचा था। खासकर कृत्तिवास-ग्रुप कहने पर जिन्हें समझा जाता है, उनमें से बहुतों की वह जीवनधारा रही जिसके चिह्न चेतना को बनाते हैं, जो नियति के हाथों समर्पित होना सिखाती है। इनमें से एक ही साथ रहा बिल्ली और बिल्ली के जबड़े में फँसा हुआ चूहा, सूर्य और अँधेरा, दस्यु और दस्यु के सामने 'इम्बेसाइल'। यह कहा जा सकता है कि बंगाल के किसी भी लेखक-सम्प्रदाय ने ऐसी भूतग्रस्त ज़िन्दगी नहीं बितायी, यह एक संयोग है कि इनमें से कोई-कोई आज भी जीवित हैं या पागल नहीं हुए। वास्तव में हेनरी मिलर के 'कैन्सर' या 'कैप्रिकार्न' में जो ज़िन्दगी मिलती है, वह इनमें से किसी-किसी के लिए लड़कपन लग सकता है। बेतरतीबी से काफ्का, ग्रन्थारग्रास या माणिक बन्द्योपाध्याय, दोस्तोयवस्की, ज्याँ जेने या सेलिंगर में, रैंबो, बोदलेयर, जीवनानन्द में हमें जो चीज़ मिलती है, उनके कुछ विक्षिप्त रूप केवल इन्हीं की किसी-न-किसी रचना में मिले हैं। दीपक मजुमदार, शरत, श्यामल, मतिनन्दी, समरेन्द्र—एक दिन ये एक ही फूलदान में रहे, कलकत्ते के हृत्पिण्ड के (अगर है) या जहाँ कलकत्ते का हृदय रहा उसके काफी आस-पास रहे ये लोग। ●

तीन कविताएँ

शुद्धि-पत्र

कैलाश वाजपेयी

तर्क की अनुदार गलियों के सिरे पर
जहां शुरू होती है कृष्ण पक्ष शाम
खड़ा हूँ निहंग
मेरी हड़कन में शामिल है आज भी
भूख, काला पैसा, वियतनाम।
कभी मुझे आदमी होकर भी सब्र था
कोख से

उगा हूँ कुछ हाथ तो
रौंपूगा
रक्तखोर, परभक्षी खोपड़े
खुशियों के संकरे ताबूत बन्द
मिट्टी, पानी भरे लोथड़े झिंझोड़ूँगा
सब्र था।

लगातार छत्तीस सौ पचास दिन
एक नदी-भरा तरबूज फाँक करके
कई सह्याद्रि, ऐल्पस, विन्ध्यारावलियां
हँफती हुई टाप से छू सपाट करके
लगातार मैंने दाँतदार चक्कर घुमाया

कुछ पिलपिले ढोल फूट गए
भाग गए कुछ गुरिल्ले शहर छोड़कर
यह शायद मेरा जिन्दा आतंक था
कुछ रीछ खुद ही लेट गए साँस रोककर
पर जिनसे वायदा था मिलने का
सरयूतट, उच्च न्यायालय की मेज पर
वे वहां नहीं मिले।

अपने जल्लादी संकल्प में
एक तमंचा लिए हुए रात-रात मैं
भटका
तराजू, खड़ाऊँ की तलाश में।
सुना जरूर

पांच लाख उठे हाथों पर रक्खे मचान में सजा
एक अग्रदूत (श्वेताम्बर) कह रहा था
शान्त रहो
(अकड़ी आँतों के बावजूद) शांत रहो।
मैं तुम्हें खोया तराजू दिलाऊँगा
जो सरयूतट पर नहीं मिले
उनसे मिलवाऊँगा
चित्रकूट में

दूत बहुत वक्त यों अपने सफ़ेद झूठ की चकाचौंध से
प्रभासित होता रहा
फिर आँख हाथ पैर मुंह नाक कान जीभ
गोंद फेंकती हुई तोंद से
धूर्त वह

खुल्लमखुल्ला शामिल हो गया अन्धाधुन्ध लूट में।
मैं भी था पांच लाख हाथों में
मैं ही था सबसे अनियारा

कांतसार, दर्पवान कम्बुस्वर
झक्क एमब्युलेन्स पर जैसे रक्ताक्षर
लोगों को मैंने उकसाया
मंत्र दिया कानों में सब नारों की तरह नारा

फ़ाका ? नऽ विरोध करो
छत से छलाँग नहीं मारो
खट्ट धाँय धुआँ करो क्रोध
करो, ज़ोरों से नफ़रत अपने-आप से
बुख़ार में रहो। वक्त कम है।
मैंने उकसाया
फ़ायदा उठाया उचक्कों ने शुरू किया
बलात्कार, अपहरण घर से
जब तक मैं रोकता
माथा झन्ना गया पुजकर पत्थर से
धन्य हुई मेरी पैग़म्बरीयता।

बाकी सब भेड़ और भोंपू थे।
ऐसे ही होते हैं लोग
इश्तहार मुग्ध, जड़ प्रवृत्तिधर्मा
बँधे हुए घर दफ़्तर शहर या महल्लों से
बस वही बरतते पहनते हैं
जो सजा हो भीतर काग़ज़ के, कांच के
दुनिया को हिटलर से उतना ख़तरा नहीं,
जितना पुछल्लों से।

मैं कहीं होता
इस उपद्वीप या किसी अन्धे कोस पर
यही हुआ होता।

कोई अफ़सोस कर झाड़ता
रफ़ूकर पहनता, सँवारता
फुचड़ा होती हुई उम्र के कपड़े
कभी तो उतारता।

अक्सर हवाई उड़ान में
नीचे की धरती देखी है
घास की साड़ी में बादल फँसाए आकर्षित करती है
मगर पास जाकर
सख्त और अनगढ़ है

सजाए सँवारे वक्त हो जिसके पास, मुझे चिढ़ है
या क्षोभ या थकान
या फिर एहसास पके बेर का
गिरकर लुढ़कना है जिसे और आगे ढलान है ढलान

जहाँ शुरू होती है कृष्णपक्ष शाम
खड़ा हूँ निहंग
तर्क की अनुदार गलियों के सिरे पर
यहाँ भी मेरी
हड़कन में शामिल है
भूख कालापैसा वियतनाम।

●

अनैतिक

लीलाधर जगूड़ी

मकान की भूमिका में पत्थरों का हाथ सिद्ध करने के लिए
मेरे किसान पिता का चेहरा हर ऋतु में अलग तरह धँस
जाता है
राज्य सरकार से केन्द्रीय सरकार तक
एक पेटीकोट की व्यवस्था अश्लील हो गयी
अपने-अपने घर के पते पर ऊपर के कमरे में
मरे हुए आदमियों के रिश्तेदार और उनके टंटे
नीचे के गैरिज में खच्चरों के घंटे बजते हैं
कुछ चंट चालाक लोग आँख मारते हुए
वृत्त होने से पहले थोड़ा-थोड़ा डरते हैं—
उजाले में असली होकर नेकर या पेटीकोट कोई बुरा नहीं
लगता
गाँव से आता हुआ या गाँव को जाता हुआ
अपने अपने कोण में लेने के लिए
तमाम दिशाएँ सुरंग होकर पीछे भाग रही हैं—
दीवारों के मुख में फँसे हुए दरवाजों से
खाली जगह का फिर कोई चेहरा देखने के लिए
बहिनें याने कि लड़कियाँ दिशाओं की तरह खुलने लग गई
हैं—
और सारे कर्तव्य मेरे सिर पर अखरोट फोड़ रहे हैं—

खैर जब धुआँ भर गया है कमरे में
रेडियो और कपड़े, अन्न और औरत को बचाना मुश्किल
हो गया
आग के केन्द्र में फँसे हुए पड़ोसी शीशे क्यों नहीं तोड़ रहे हैं—

बड़ी हवा थी पुल बाँधते समय लेकिन तमाम रास्ते
पेट तक जाकर गुम हो गये हैं
इस शरीर से पवित्रता की चिता तक
स्थानीय आकाश बहुत छोटा पड़ गया है

जहाँ हम और बम एक ही जगह रख दिये गए हैं
फटने से पहले लड़की से औरत तक
औरत से माँ तक का फ़ासला मैं भी हूँ—
असली जन्मदिन की तारीख भूलकर
सवाल यह नहीं कि मेरे उछलने से ऊँचाई बनी या नहीं
बल्कि पेड़ इस बार और उछले थोड़ा
इस जमीन के चरित्र के बारे में आपका क्या खयाल है ?

क्या बहुत ज्यादा पता चलता है कि मैं अपने पैरों पर
खड़ा नहीं हो सकता ?
कोयना के आखिरी दिन की हलचल लेकर
यह छायाओं का नागरिक वस्ता मेरे किसी काम नहीं आ
सकता ?

जो भी हो इस दिन को चटपट काटना पड़ेगा
और इस व्यवस्था में शामिल होने से फ़रार होना पड़ेगा

इस देश की दैनिक मृत्युदर और जन्मदर में कोई फ़र्क नहीं
रह गया
यहाँ से वहाँ तक चुनाव के बाद का संकट लेकर
पेट और प्रजातंत्र के बीच आदमी दरार की तरह खड़ा है
और हर दरवाजे पर बवण्डर पर्वे की तरह पड़ा है

पागल और ग़रीब की जात नंगी हो गयी
कमरे, मौसम, वनस्पतियाँ और धुआँ
इन सबके विपरीत मेरा कुछ अर्थ बन रहा है
मिट्टी को जूते मारते हुए मैं आत्महत्या कर सकता हूँ—
अपने सारे शरीर को राष्ट्रीय समझकर उस पर थूक
सकता हूँ—
भाषण या वादे या भजन···

अपने आपको तोड़ने के अलावा मेरे पास कोई नारा नहीं
सारी सभ्यता का उजाला चाटकर मुझे कैंसर हो गया है
मैं न समाज हूँ न व्यक्ति न नाम
मुझसे सिर्फ़ बचा जा सकता है या फिर घृणा की जा
सकती है

पूरा समाज (खाली) परेड पर है
और चीजें एक विशेष दिन के इन्तजार में तमाम सम्बन्धों
को सह रही हैं
अपने-अपने एकान्त में जिसका कोई भविष्य नहीं
आदमी का गौरव बीवी का पर्स और गदहे की मजदूरी
सारे शहर में एक है
जहाँ सब-कुछ उजड़ चुका हो उन सुरक्षित जगहों पर
क्या यह बहुत ज्यादा लगने लगा है कि मैं आदमी नहीं हूँ

•

साल की सहयोगी कविता

श्रीराम तिवारी

सात वर्ष हुए
मैंने अपनी उँगलियाँ नहीं
देखीं—
सोचती धारदार उँगलियाँ।
मैं लगातार घर-घर गया
मित्र ही छोड़कर हट गए
परिणति की आग उठाने की
अदा देकर।
और, हमारी आग
वह जलता फूल है भदेस
नस्लों का जो मँहकना
भूलकर
गंदा हँसता है।

एक गँवारू गंस सी-सी लय में
हवा और चरित्र
दोनों को चलाती है, इससे
गोबर, बच्चे और ताजी लड़की का
भौतिक मन दुःखी नहीं होता
और फायदा
गुमनाम चीजों को हो जाता है
जैसे माचिस को या दस्ताने को
जो सब जगह घिसती
घड़ियों की टिक में
शामिल हैं :

जहाँ हर इंतजाम
बागी चुगलखोर द्रव्यभोगी
मक्कार के हाथ में हो,
मँगनी की कमाई
खाते हों
मंत्री महिलाएँ कठमुल्ले महाजन
प्राध्यापक

और सारी हुकूमत का चक्कर कुछ
ठाटों और पीली हिम्मतों
के लिए हो
उस जगह का नाम क्या है ?

उस जगह की बदसूरती
तमीज और हजामत के बीच
रचना की तानाशाही
जिन्दा रखने में
मैं
जीत गया हूँ और
बर्फ़ जैसी आदतें
ठीक कर रहा हूँ—

जाहिर है कि
जिधर स्वाद की दिशा है
उधर रेलगाड़ियाँ नहीं जातीं
और अखबार
रोजमर्रा के तिथि-अंकों को
राशिफल हत्या शेयर
के नीले मुकामों पर
छोड़ आते हैं
वहाँ
रीछ
बजट लड़ाई कंधों के
गर्भपात का इंतजार करता है

समुद्री घोड़ों
को क्या मालूम कि
बाढ़ सरकार हड़ताल से
कौन तकरार करता है
कौन कहता है
पेटों की बिल्लियाँ
सभ्यता का काव्य-पाठ
भूल गई हैं
बस्ती से बस्तर तक
मदन मेहरा अकाल का सस्ता
चार आने का यौनाचार
करता है। केवल ललिताओं
कविताओं के बिकने का
सवाल है कि हर
अच्छी बात उत्साह और
ऊब हो गई है

जब रविवार या ऐसी ही कोई
चालाकी खत्म होती है
आदमी की नीयत साफ़ हो जाती है :
बावजूद इसके कि
पाठक कुत्तों और धर्मों का मज़ा
लें कुछ पवित्र
और गंभीर शर्तों से बनती
है शब्द और
पानी की राह—
फँसी ज़बान की तरफ़ खुलती
बिजली ईमान और आँकड़ों की
खिड़कियाँ शर्त हैं इसके
बाद ज़रूरी नहीं कि
दूसरी और चौथी शर्त
दफ्तर और झंडों के
लिए हो
वह उस पेंसिल के लिए हो
सकती है जो स्कूली बच्चे
के बस्ते में कल से
ग़ायब है।

बहुत-सी चीज़ों के बारे में
तय नहीं है
जैसे अगले जाड़ों में नई शाल
के रंग के बारे में या
अपनी जगह नहीं चुन पाने का
कोफ़्त लिए घूमती गौरैया के
जोड़े के बारे में या
उन छलों के बारे में
जो गीले मौसमों में अक्सर
दुपहर को चमका देती हैं
बर्तनों की तरह
या खामोशी के हरे ताल
में डूबे गुलमुहरों के बारे में
और ऐसी तमाम दलीलों के
बारे में जो यक्ष-नगरी में
पिछले दिनों के लिए
सुरक्षित हैं फिर भी
एक दुनिया
बन्द और साबुत

परिचित इमारतों मोहों दूतावासों
के झूठ में खुलती है
एक दुनिया सौदे और साख
का उतरा चेहरा लिए
चायघरों में बैठती है
और एक शीत दुनिया देशवासी
की टोपी और क्रीज़ की
कबड्डी में रहती है

दिमाग़ में बहुत देर तक
बिम्ब लिए रहना
नकली और खाली उस
लम्बी चीख का निमंत्रण है
जो रेत बारिश और
बच्चों की सुफेद प्रार्थनाओं से
प्रभु के भीतर उतर
रही है
प्रभु हल्का गुलाबी

मकानों और अपराधों की
फेहरिस्त लिए
सोचता है : वह
रोज कैसे मर जाता है
पहले पृष्ठ की ख़बरों की
तरह

प्रभु की हर रात सुख-दुःख के
आलिंगन विरह-मिलन की रात है
प्रभु के शराबी पैर सड़कों पर
लड़खड़ा रहे हैं
प्रभु की हर चाल मियादी बुख़ार
की तरह स्थिर हो गई है
प्रभु अभिनेता और सैनिक
की पराई ज़िन्दगी
में
चारों तरफ़
घटना और ठण्ड की मियादी
आँखों में
छलछला आया है :

किसने किसको क्या करने से
रोका
परसों जंग हुआ चोखा—बन्द हुआ
बादल का टोंटा
इस ज्ञानवान मँहगी और महान्
धरती पर क्या हो रहा है किससे
कौन पूछे ?
तड़के मजूर निकला कमाने
संसद से लौटा
निघंटू निवसन
छूछे···

मैं
भय को बर्फ़ से अलग
करती आत्मीयता दाबे
दरीचों से उल्टा गुजर
रहा हूँ राखदानियों से
कठोर फूलों के
अँधेरे तक सुरुचियों से
जलप्लावित खेतों में···बस
छूट गई हाय ! बेहूदी जल्लाद-इच्छा
से पनपती है शम्पाती-भावना
बासों और पुलों को नोचने की तबियत
से खुश जॉनसन···प्रेमिका के
साथ सोने की जगह नहीं
आह !
सुविधा-गंध चाय । शहर में पीने
उतरते सालाना
चार हजार चार सौ बीस लेखक ।

कमरे से निकलते वक्त वह बहुत
चुप था अंतड़ी पकड़े ।
उसने देखा पिछले तंत्रों के
फानूस पर फटे बैलूनों में
पम्प हो रहा है और कुछ तय
हो रहा है मरदूदों के
बीच वह हँसा किया धीरे से
लोग व्यवस्थाएँ और पपीते
करबद्ध खड़े हैं तरीके
उसने नजदीक से नई सूरतों को चाट लिया
और मर गया
गांजा पीके ।

●

प्रासंगिकी

पुनर्जीवन में महानता : कार्ल मार्क्स १५०वीं वर्षगाँठ

मोहित सेन

डेढ़ शताब्दी का काल सुदूरभूत है या बहुत नज़दीक, यह इस पर निर्भर है कि पिछले इतिहास का सर्वेक्षण किस उद्देश्य से किया जा रहा है। सम्बद्धता और महत्त्व की दृष्टि से देखें तो ५ मई १८१८ को जर्मन शहर ट्रायर में जन्म लेने वाला व्यक्ति हमसे काफ़ी करीब है, यों तो जन्मदिन का महत्त्व सिर्फ़ इतना ही है कि उस दिन एक ऐसी ज़िन्दगी की शुरुआत हुई जो आगे चलकर एक क्रान्तिकारी एवं वैज्ञानिक की ज़िन्दगी बनी। उस व्यक्ति में सत्य की तह तक जाने की क्षमता थी। हमारी जो भी ख़ास पसन्द-नापसन्द हो, किसी भी मापदण्ड से देखने पर हम पाते हैं कि मार्क्स का जन्मदिन इतिहास का एक क्षण है जो मानवता का एक क्षण बन गया है।

कई दृष्टियों से मार्क्स को सबसे उत्कृष्ट श्रद्धाञ्जलि उनके कुछेक विज्ञ समालोचकों में से एक शूम्पीटर ने अर्पित की है। उन्होंने लिखा है—"बुद्धि या कल्पना की बहुतेरी सृष्टियाँ सदा के लिए कुछ समय में ही ख़त्म हो जाती हैं। यह समय एक क्षण से लेकर एक पीढ़ी तक का हो सकता है। किन्तु कुछेक सृष्टियाँ इस तरह समाप्त नहीं होती हैं। भले ही थोड़ी देर के लिए वे लुप्त हो जाती हैं, लेकिन फिर उनका उदय होता है और दूसरी बार वे सांस्कृतिक विरासत के अन-जाने तत्त्व के रूप में नहीं, बल्कि अपने व्यक्तिगत रूप में सामने आती हैं, उनके व्यक्तित्व पर खरोंच भी होते हैं जिन्हें लोग छू और देख सकते हैं। इन्हें हम बिना झिझक महान् व्यक्ति कह सकते हैं। महानता को जीवनी शक्ति से सम्बद्ध करना इस परिभाषा की कोई ख़ामी नहीं है। इस अर्थ में यह शब्द मार्क्स के सन्देश पर निःसन्देह लागू होता है, किन्तु पुनर्जीवन के माध्यम से महानता की परिभाषा करने में एक और फ़ायदा है कि महानता हमारे प्रेम या घृणा से परे हो जाती है। हमें यह मानने की कोई आवश्यकता नहीं है कि महान् उपलब्धि अवश्यम्भावी रूप से प्रकाश का स्रोत या मूल रूपांकन या विस्तार में दोषरहित होगी। इसके विपरीत हम इसे अन्धकार की शक्ति मान सकते हैं; हम इसे मूलतः गलत मान सकते हैं या कई विशेष स्थलों पर असहमत भी हो सकते हैं। जहाँ तक मार्क्सवादी पद्धति का सम्बन्ध है, ऐसे प्रतिकूल निर्णय या यहाँ तक कि गलत सिद्ध करने के लिए निश्चित प्रमाण सिर्फ़ संरचना की शक्ति को ही सामने लाते हैं।"

वैसे सिर्फ़ संरचना अपनी विशाल शक्ति की दृष्टि से ही नहीं बल्कि उसके व्यक्तित्व की दीप्ति के कारण स्मरणीय है। १८६७ में हनोवर में मार्क्स ने प्रकाशन के लिए 'पूँजी' के प्रथम खण्ड को व्यवस्थित करते समय सिगफ़ायड नामक एक खान इंजिनियर को लिखा था—"मुझे तथाकथित 'व्यावहारिक' लोगों और उनकी बुद्धि पर हँसी आती है। अगर किसी के पास बैल जैसी चमड़ी हो तभी वह मानवता के उत्पीड़न के प्रति उदासीन रहकर सिर्फ़ अपनी सुख-सुविधा की ओर ध्यान दे सकता है, किन्तु जैसी मेरी स्थिति है, मैं अगर पुस्तक को कम-से-कम पाण्डुलिपि के रूप में ही बिना पूरा किए मर जाता तो अपने को बहुत अव्यावहारिक समझता।" मार्क्स-परिवार की यातनाएँ (उनको कम करने के लिए एंगेल्स के अथक प्रयासों के बावजूद) अपने-आपमें वीरता की कहानियाँ हैं। जैसा कि किसी ऋषि ने कहा है, आदमी को न सिर्फ़ किसी चीज़ की प्रकृति को जानना चाहिए बल्कि उसे अनुभव भी करना चाहिए। मार्क्स ने बौद्धिक निष्ठा की प्रकृति का उस समय निर्वाह किया जब नवोदित पूँजीवाद के विरुद्ध नाम को भी प्रतिप्रभावी शक्तियाँ नहीं थीं।

न यातना और न अडिग निष्ठा ही सिर्फ़ उस व्यक्ति के पूर्ण महत्त्व का अनुभव करा सकती हैं। ये अपने-आप काफ़ी महत्त्वपूर्ण हैं किन्तु इनसे भी अधिक महत्त्वपूर्ण है प्रतिबद्धता का तथ्य। मार्क्स ने अपने-आपको एक उद्देश्य—पूँजीवादी

व्यवस्था के क्रान्तिकारी उन्मूलन, मनुष्य द्वारा मनुष्य के शोषण का खात्मा और श्रमजीवी वर्ग की मुक्ति जो अन्य सब उत्पीड़ित लोगों की मुक्ति के साथ होगी—की प्राप्ति के लिए अर्पित कर दिया था। प्रतिबद्धता के दो पहलू हैं जिनकी ओर ध्यान देना आवश्यक है।

पहला पहलू है जीवन-पर्यन्त प्रतिबद्धता और उसकी विस्तृत प्रकृति। १८४५ से—जब पेरिस में उनका निर्वासन हो गया था और फिर उस शहर से १८४५ में निकाले जाने पर ब्रूसेल्स और अन्तिम रूप से १८४९ से १८८३ तक लंदन की दीन-हीन बस्तियों में बसने पर—मार्क्स की प्रतिबद्धता और गहरी हो गई। उनका जोश कभी ठंडा नहीं हुआ बल्कि दिन-प्रतिदिन तेज होता चला गया, ज्यों-ज्यों उनके अध्ययनों से उनके निष्कर्ष कि श्रमजीवी वर्ग 'संजीवनकारी सिद्धान्त' है। इसी सिद्धान्त ने उनके बौद्धिक जीवन के प्रारम्भ में उन्हें डेमोक्रिट्स से एपिक्यूरस की ओर खींचा था। इसीलिए ब्रिटिश म्युजियम में करीब तीन दशकों तक घंटों बिताने के साथ-साथ उन्होंने श्रमजीवी वर्ग के आन्दोलन के साथ प्रत्यक्ष सम्बन्ध बनाये रखा और महत्त्वपूर्ण मौकों पर वे उसके प्रत्यक्ष संगठनकर्त्ता भी बने। जिस व्यक्ति ने 'कम्युनिस्ट घोषणा पत्र' लिखा उसने कम्युनिस्ट कॉरेस्पोंडेंस कमेटियों के संगठन में भी सहायता दी। इन्हीं कमेटियों के कारण आगे चलकर कम्युनिस्ट लीग की स्थापना हुई। और यहाँ तक कि जब वे 'द क्रीटिक ऑफ़ पोलिटिकल इकॉनमी' और 'पूंजी' की रचना में रात-दिन एक कर जुटे हुए थे उन्होंने समय निकालकर श्रमजीवियों के बीच सिर्फ लोकप्रिय भाषण ही नहीं किये बल्कि अन्तर्राष्ट्रीय-श्रमजीवी संघ के मुख्य मसविदाकार और संगठनकर्त्ता के कठिन और थकानेवाले कर्त्तव्यों का निर्वाह किया। इस तरह शुरू से अन्त तक यही चलता रहा। उनकी प्रतिबद्धता सिर्फ आशय की घोषणा या आम अस्पष्टता के स्तर पर सीमित नहीं थी। वह सतत् ज़ोरदार अभिव्यक्ति थी।

प्रतिबद्धता का दूसरा पहलू है उसकी प्रकृति की व्यर्थता। मार्क्स ने कभी भी अपने को वाक्यांश और रूमानी उफान में नहीं उलझाया।

भ्रान्ति का कृत्रिम महल बनाना प्रतिबद्धता के लिए उन्होंने ज़रूरी नहीं समझा। एक सबसे महत्त्वपूर्ण उदाहरण है, १८४८ की क्रान्ति की पराजय से वस्तुगत किन्तु कष्टदायी निष्कर्ष निकालना : कैलिफोर्निया में सोने का अन्वेषण और पूंजीवादी विश्व बाज़ार की निश्चित रूप से स्थापना। दूसरा उदाहरण था प्रगति की दुखदायी प्रकृति को स्वीकार करना : "इतिहास के पूंजीवादी काल को नये विश्व का भौतिक आधार तैयार करना पड़ता है—एक ओर मानवजाति की पारस्परिक निर्भरता के आधार पर व्यापक समागम, दूसरी ओर मनुष्य की उत्पादक शक्तियों का विकास और भौतिक उत्पादन का प्राकृतिक अभिकरणों के आधिपत्य के रूप में परिवर्त्तन। पूंजीवादी उद्योग एवं वाणिज्य ने नये विश्व की इन भौतिक स्थितियों का उसी तरह निर्माण किया है जिस तरह भू-वैज्ञानिक क्रान्तियों ने पृथ्वी की सतह का निर्माण किया है। जब एक महान् सामाजिक क्रान्ति पूंजीवादी युग की उपलब्धियों—विश्व-बाजार और उत्पादन की आधुनिक शक्तियों—को प्राप्त कर लेगी और अत्यन्त उन्नत जनगण के सामूहिक नियंत्रण में ला देगी, तभी मानवीय प्रगति की उस डरावनी मूर्ति से समानता हो जायगी जो सिर्फ़ गुलाम की खोपड़ी से ही अमृत-पान करती है।" आदर्शवादी भ्रान्तियों और 'झूठी चेतना' में मन रमाने से इन्कार करने के कारण मार्क्स बहुतेरे महान् क्रान्तिकारियों से अपने को अलग कर लेते हैं। बाकुनिन के प्रति उनके विरोध भाव का भी आंशिक कारण यही है। बेकार की चमक-दमक और उन्माद मार्क्स की प्रकृति के उतने ही विपरीत थे जितने मूल बातों और अनौचित्य से समझौता करना।

कम-से-कम शब्दों में कहें तो यह एक ऐसी ज़िन्दगी थी जिस पर चर्चा करना ठीक है, तो भी हिन्दुस्तान में उनकी वर्षगांठ के अवसर पर बौद्धिक अनुसन्धान-सम्बन्धी दो प्रश्नों की ओर ध्यान दिलाना आवश्यक है।

पहला है पूर्व पूंजीवादी संरचना का विश्लेषण। 'द क्रीटिक ऑफ पोलिटिकल इकॉनमी' की प्रसिद्ध भूमिका में, जहाँ सूक्ति रूप में उन्होंने ऐतिहासिक भौतिकवाद का अपना सिद्धान्त प्रस्तुत किया (एंगेल्स ने अधिशेष मूल्य के अन्वेषण सहित जिसे मानव-ज्ञान के भण्डार में उनका विशिष्ट योगदान बतलाया), उन्होंने लिखा, "मोटे तौर पर एशियाटिक, प्राचीन, सामन्तवादी और आधुनिक पूंजीवादी उत्पादन-प्रणालियों को समाज की आर्थिक संरचना में प्रगतिशील युग कहे जा सकते हैं।" विकास के अपने नियमों सहित एक विशिष्ट सामाजिक-आर्थिक संरचना के रूप में एशियाटिक

उत्पादन-प्रणाली को समाज-विकास की मार्क्सवादी विश्लेषण की मुख्य धारा से एक समय के लिए बहिष्कृत कर दिया गया था। मार्क्स की अपनी सारिणी के बदले अपेक्षाकृत सरल, एकरैखिक प्रतिरूप—आदिम साम्यवाद, दासता, सामन्तवाद और पूँजीवाद—को रख दिया गया। यह संदेहास्पद है कि यह प्रतिरूप उन देशों में, जहाँ पूँजीवादी चरण नहीं आया था, विश्लेषण के साधन के रूप में सचमुच सहायक सिद्ध हुआ। पश्चिमी यूरोप ही पहले-पहल पूँजीवादी चरण पर पहुँचा और विश्व के अधिकांश में पूँजीवाद नहीं विकसित होने दिया। इस प्रतिरूप के आधार पर विश्लेषण का प्रचार स्टालिन ने किया और उसे माओ त्से-तुंग ने अपनाया। किन्तु इससे यह मालूम नहीं होता कि क्यों इन क्षेत्रों में, जहाँ पिछले काल में अपूर्व गति से समाज विकसित हुआ, समाज-विकास की धारा रुकी रही।

'द क्रिटिक ऑफ़ पोलिटिकल इकॉनमी' और 'पूँजी' की रचना करते समय पूर्व पूँजीवादी व्यवस्था पर मार्क्स द्वारा तैयार की गई कुछ टिप्पणियों के अँग्रेज़ी अनुवाद होने और एरिक हॉब्स बॉम द्वारा लिखित बेजोड़ लम्बी प्रस्तावना के कारण अंग्रेज़ी जानने वालों के बीच यह विवाद ज़ोर पकड़ गया है। 'द क्रिटिक' की भूमिका में एक विशिष्ट सामाजिक-आर्थिक संरचना के रूप में एशियाटिक उत्पादन-प्रणाली को रखना जल्दीबाज़ी में लिए गए निर्णय का परिणाम नहीं था। स्पष्ट है कि निजी सम्पत्ति और वर्ग-समाज के विकास के एक सम्भावित मार्ग के रूप में इसकी चर्चा की गई है। साथ ही इसकी चर्चा अपेक्षाकृत परिवर्तन-विरोधी उत्पादन-प्रणालियों के रूप में हुई है। मार्क्स की टिप्पणियों से स्पष्ट है कि एशियाटिक उत्पादन-प्रणाली की मुख्य विशेषता के रूप में "भूमि पर स्वामित्व के अभाव" को नहीं माना गया है (यह धारणा सिर्फ़ मार्क्स के भारत-सम्बन्धी लेखों पर ध्यान देने से बनती है।)

जैसा कि हॉब्स बॉम ने लिखा है, "मार्क्स ने स्पष्ट रूप से माना कि इस व्यवस्था की मूल विशेषता ग्राम समुदाय में विनिर्माण और कृषि की स्वयंधारी एकता है। इसमें "अपने-आपमें पुनरुत्पादन और अधिशेष उत्पादन की सारी स्थितियाँ निहित हैं" और इसीलिए अन्य व्यवस्थाओं ने अपेक्षाकृत अधिक दृढ़ता से विघटन और आर्थिक विकास को रोका। "यद्यपि अधिशेष उत्पादन के अलगाव की यथास्थान चर्चा की गई है (लगान की अपेक्षा नज़राने की प्रथा का प्रचलन), तथापि" सामुदायिक इकाइयों की 'बन्द' प्रकृति का मतलब है कि शहर शायद ही अर्थव्यवस्था के अंग हैं। "शहर उन्हीं स्थानों पर उदय होते हैं जो बाहरी व्यापार की दृष्टि से उपयुक्त हैं, या जहाँ शासक और उसके क्षत्रप अपने राजस्व (अधिशेष उत्पादन) का श्रम के साथ विनिमय करते हैं। वे इस राजस्व को श्रम-कोष के रूप में खर्च करते हैं।" अतः एशियाटिक व्यवस्था वर्ग-समाज नहीं है और अगर वर्ग-समाज है भी तो बहुत प्रारम्भिक किस्म का। लगता है कि मार्क्स पेरूवियन और मेक्सिकन समाजों को भी उसी कोटि का मानते हैं।···हम पाते हैं कि "इस व्यवस्था में विकास की गुंजायश है, लेकिन सिर्फ 'विलास की वस्तु' के रूप में। कबीले या गाँव की बुनियादी स्वयंधारी इकाइयों द्वारा दिये गए या ज़बरन लिये गए अधिशेष के आधार पर ही विकास हो सकता था।"

जोसेफ नीधम की चीन-सम्बन्धी महान् कृति और चीनी विकास के लिए इस अवधारणा के समर्थन से भारतीय इतिहास के मार्क्सवादी शोध एवं अध्ययन की मुख्य धारा में एशियाटिक उत्पादन-प्रणाली को शामिल करने की बहुत ज़रूरत महसूस हुई है। जोसेफ नीधम ने बर्नाल स्मारक ग्रन्थ (या यों कहें कि 'विज्ञान के सामाजिक कार्य' के प्रकाशन की २५वीं सालगिरह के अवसर पर प्रकाशित ग्रन्थ) में छपे अपने लेख 'पूर्व और पश्चिम में विज्ञान और समाज' में अपूर्व स्पष्टता से अपने विचार रखे हैं।

जो भी हो, ऐतिहासिक विकास के जाने-पहचाने मार्क्स-वादी प्रतिरूप के तंग दायरे की अपेक्षा इस अवधारणा के ढाँचे में हिन्दुस्तान के सुदूरभूत का शोध करना अच्छा रहेगा। हम कल्पना कर सकते हैं कि इससे इतिहासकारों के 'अनन्य भारत' स्कूल को उचित उत्तर दिया जा सकेगा। ये इतिहास-कार कोई व्याख्या नहीं करते (और न ही घटनाओं को काल-क्रम से ही रख पाते हैं), किन्तु इनके लेख हमारे देश में बेहूदी सामाजिक भूमिका ज़रूर अदा करते हैं और खासकर परि-वर्तन के लिए दबाव के वर्तमान संदर्भ में।

अनुसंधान का दूसरा मार्ग उस अन्तर के आधार पर हो सकता है जो मार्क्स ने पूँजीवादी विकास के दो रास्तों के बीच किया। विकास का पहला मार्ग 'सचमुच क्रान्तिकारी मार्ग' है जिसमें उत्पादक (छोटा वस्तु-उत्पादक) 'व्यापारी और

पूंजीपति' बन जाता है और दूसरा मार्ग वह है जिसमें व्यापारी "प्रत्यक्ष रूप से उत्पादन पर अधिकार जमा लेता है"। दूसरा मार्ग "ऐतिहासिक तौर पर संक्रमण का ढंग है", "किन्तु इसके बावजूद यह अपने-आप उत्पादन की पुरानी प्रणाली को खत्म करने के लिए बहुत-कुछ नहीं कर सकता, यह उसे बनाये रखता है और इसे आधार के रूप में प्रयोग करता है", और अन्ततोगत्वा 'हर जगह वास्तविक पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली के लिए बाधक हो जाता है।"

मार्क्स ने 'पूंजी' के तीसरे खण्ड में यह अन्तर स्पष्ट कर दिया था, किन्तु हम इसे पुनर्जीवित करने के लिए मॉरिस डॉव (खासकर सामन्तवाद से पूंजीवाद की ओर संक्रमण में महत्त्वपूर्ण कारक शक्तियों के सम्बन्ध में पॉल स्वीजी से बहस के दौरान) के आभारी हैं। परिसंवाद में जापान के ताकाहासी के योगदान को याद करें। उन्होंने कहा था, "विश्व की भिन्न ऐतिहासिक स्थितियों में यह कहा जा सकता है कि पूंजीवाद की स्थापना की प्रक्रिया भिन्न बुनियादी दिशाओं में होती है, पश्चिमी यूरोप में, मार्ग नम्बर १ (उत्पादक व्यापारी बनता है), पूर्वी यूरोप और एशिया में, मार्ग नम्बर २ (व्यापारी विनिर्माता बनता है)। स्वभावतः ये सब परिभाषाएँ (खासकर एक सामान्य प्रतिरूप पर आधारित अन्तर) कुछ-न-कुछ मनमानी हैं और जैसे-जैसे हम अमूर्त से मूर्त की ओर आते हैं इनमें संशोधन की आवश्यकता होती है। इसके बावजूद ये न सिर्फ अवधारणात्मक उपकरण का ही काम करती हैं बल्कि अत्यन्त विस्तृत विवरण की तुलना में किसी प्रक्रिया-विशेष की अखण्ड पूर्णता के सबसे सच्चे वक्तव्य के रूप में भी काम देती हैं।

हमारा सुझाव है कि मार्क्स द्वारा बतलाया गया पूंजीवादी विकास का दूसरा मार्ग ब्रिटिश औपनिवेशिक विजय के पूर्व वर्षों के दौरान भारतीय पूंजीवाद के विकास के अध्ययन में सहायक होगा और एशियाटिक उत्पादन-प्रणाली के विनाश की प्रक्रिया की गति धीमी होने और समाज के विकास में बाधा डालने वाले इस मार्ग में निहित तत्त्वों के बारे में रहस्योद्घाटन करेगा। ब्रिटिश औपनिवेशिक व्यवस्था के अन्तर्गत और उसके अंग के रूप में, भारतीय पूंजीपति वर्ग (उसके शहरी हिस्से) के विकास और स्वतंत्रता के बाद के काल में एकाधिकारी परजीवीपन की ओर उसकी तीव्र प्रगति (इन एकाधिकारियों के परजीवी और उत्पादन-विरोधी चरित्र को बहुत अच्छी तरह विवियन बोस आयोग और औद्योगिक लाइसेंसिग सम्बन्धी हमारी रिपोर्ट ने स्पष्ट कर दिया है) के अध्ययन में सहायता मिलेगी। ऐसा भी हो सकता है कि आगे चलकर यह अन्तर औपनिवेशिक क्षेत्रों के पूंजीपति-वर्ग के विश्लेषण में मार्क्सवादियों द्वारा प्रयुक्त विदेशी एकाधिकारों से सम्बद्ध और राष्ट्रीय पूंजीपतिवर्ग के द्विधा वर्गीकरण से अधिक सही एवं उपयुक्त सिद्ध हो। अन्त में, यह अन्तर स्वातंत्र्योत्तर भारतीय पूंजीपति वर्ग के अन्तर्गत विशिष्ट प्रवृत्तियों और पूंजीवादी विकास के परस्पर-विरोधी संगत मार्गों—स्वतंत्र एवं साझेवाली—के अध्ययन में सहायक होगा। यह राष्ट्रीय-जनतांत्रिक मोर्चे की अवधारणा को एक निश्चित सैद्धान्तिक वज़न प्रदान करेगा। इस मोर्चे में पूंजीवादी और पूंजीवाद-विरोधी शक्तियाँ शामिल होंगी जिसके फलस्वरूप अस्थायी तौर पर विरोधी तत्त्वों की एकता स्थापित होगी जिसे 'गैर-पूंजीवादी मार्ग' कहा गया है।

यह सही है कि पिछले दशक या उसके आसपास अन्वेषण के इन दोनों मार्गों का अनुसरण किया गया है। इस शताब्दी के तीसरे और चौथे दशकों के दौरान मार्क्सवादी साहित्य एकाएक भारतीय बुद्धिजीवियों को मिला। अभी धरातल और कारण दोनों हैं कि मार्क्स जैसे ही सामान्यीकरण किये जाएँ। इन सामान्यीकरणों के निर्माण के दौरान मार्क्स के कुछ मौलिक सिद्धान्तों की ओर लौटना आवश्यक है। उनकी १५०वीं वर्षगाँठ इस प्रयास को प्रारम्भ करने के लिए एक विशेष पुनीत अवसर है जिससे आगे चलकर मार्क्सवादी पद्धति का भारतीय वस्तु-स्थिति से एकीकरण हो सके।

यह और भी जरूरी है क्योंकि अगर मध्ययुगीन प्रगति-विरोधी ताकतों को राष्ट्रीय विचारधारा के विघटन के फलस्वरूप बने शून्य में ज़हरीले धुएँ भरने से रोकना चाहते हैं तो सामूहिक कार्रवाई के स्तर पर ज़रूरी है कि मार्क्स के बुनियादी विचारों का अधिक-से-अधिक प्रसार हो। मार्क्स या बीटलों के महर्षि-जैसी कोई विषय-वस्तु—ये ही स्वतन्त्र भारत की नयी पीढ़ी के सामने दो विकल्प उभरते जा रहे हैं। अगर "हिन्दुओं के इस विचित्र विषाद" को विकृत जंगलीपन का रूप नहीं लेना है तो भारत को अपने और अपने भविष्य को अमर-राईनलैण्डवासी की कृतियों में ढूंढना होगा।

अनु०—गिरीश मिश्र

'इकॉनॉमिक एंड पोलिटिकल वीकली' से साभार।

सुर्जकुमार तेवारी

रामविलास शर्मा

उत्तर भारत में अति प्राचीन काल से अवध नाम का जनपद प्रसिद्ध है। यहाँ के राजा रामचन्द्र ऐसे प्रतापी हुए कि लोग उन्हें ईश्वर का अवतार कहने लगे; जिस राज में प्रजा को सब सुख प्राप्त हों, उसे राम-राज कहा जाने लगा। भारत के आदि-काव्य 'रामायण' के नायक यही राम थे; महर्षि वाल्मीकि ने उस महाकाव्य की रचना इसी अवध में की थी जिसे अव नीमसारन कहते हैं। पौराणिक काल में वह नैमिषारण्य कथा-वाचकों का केन्द्र था। यहाँ से अनेक व्यास और सूत कथा-वार्ता सुनाने निकले, नये-नये प्रदेशों में घूमकर उन्होंने सारे देश को एकता के सूत्र में बाँधा। १६वीं सदी में रायबरेली ज़िले के जायसग्रामवासी मलिक मुहम्मद ने अवधी में अपना प्रबन्ध-काव्य 'पद्मावत' लिखा। इसका प्रभाव दूर-दूर तक पड़ा और बंगाल में इसका अनुवाद किया गया। अकबर के समय में व्यापार, उद्योग-धन्धे, कला, साहित्य—सभी क्षेत्रों में अभूतपूर्व उन्नति हुई। उस युग में गोस्वामी तुलसीदास ने अवधी में अपना विश्व-प्रसिद्ध ग्रन्थ 'रामचरितमानस' रचा। अवध के अलावा उत्तर भारत के प्रायः सभी जनपदों में यह काव्य पढ़ा और गाया जाने लगा; भारत की संस्कृति पर उसकी छाप गहरी और अमिट है। अठारहवीं-उन्नीसवीं सदियों में केन्द्रीय शासन कमज़ोर होने से अवध के नवाब बादशाह बन बैठे। नवाबी विघटन से लाभ उठाकर अंग्रेज़ों ने अवध पर अधिकार कर लिया। अवध पर अंग्रेज़ों का अधिकार—अठारह सौ सत्तावन में भारत के प्रथम स्वाधीनता-संग्राम का यह एक प्रमुख कारण था।

निराला के आरंभिक जीवन से सम्बद्ध यह निबन्ध डॉ० रामविलास शर्मा के वृहद ग्रंथ 'निराला की साहित्य-साधना' का पहला अध्याय है। ग्रंथ तीन खंडों में विभक्त है : प्रथम खंड जीवन-चरित, द्वितीय खंड कला और विचारधारा तथा तृतीय खंड अध्ययन सामग्री और पत्र। इस ग्रंथ के लिए डॉ० शर्मा वर्षों से सामग्री एकत्र करते रहे हैं और एक तरह से यह डॉ० शर्मा की भी साधना का प्रमाण है। प्रथम खंड इस समय प्रेस में है।

क्लाइव के ज़माने से अवध के किसान रोटी-रोज़ी की तलाश में बंगाल जाते थे। वहाँ फौज में भर्ती होकर अंग्रेज़ी राज के विस्तार में सहायक होते थे। जिसे बंगाल-आर्मी कहा जाता था, उसमें बंगाल का एक भी सिपाही न था; ज़्यादातर सिपाही पछाँह के थे, विशेषकर अवध के। अवध की बेगम, अज़ीमुल्ला, नानासाहब, फ़ैज़ाबाद के मौलवी, राना बेनी माधव को साथ मिलाकर अवध के सिपाहियों ने अंग्रेज़ों से दो साल तक भयंकर संग्राम किया। अंग्रेज़ों ने इसका बदला लिया; उन्होंने अवध को, जो भारत का बाग कहलाता था, उजाड़ डाला। उन्नाव, रायबरेली, लखनऊ, इलाहाबाद, बहराइच आदि उद्योग और व्यापार के बड़े-बड़े केन्द्रों को उन्होंने बर्बाद कर दिया।

अंग्रेज़ी राज में अवध की प्रजा को दोहरा अत्याचार सहना पड़ता था। अंग्रेज़ों ने ताल्लुकदारों-ज़मींदारों को अपना चाकर बना लिया था। सूदखोर महाजनों और निर्दयी ज़मींदारों की मदद के लिए अंग्रेज़ी कानून, कचहरी-अदालत, पुलिस, ज़रूरत हो तो फौज भी, हमेशा तैयार रहती थी। सबसे ज़्यादा सताए जाते थे 'नीची जात' वाले। चमारों से बेगार लेना, उनकी बहू-बेटियों को बेइज्ज़त करना ज़मींदारों का आम चलन था। बहुत-से गाँवों में गरीबी के मारे ये अपढ़-असहाय चमार मुर्दा जानवरों का मांस खाकर दिन काटते थे। अंग्रेज़ों ने अल्पसंख्यक मुसलमानों को पुलिस-कचहरी में विशेष सुविधाएँ देकर, सरकारी काम-काज में अरबी-फ़ारसी से लदी हुई भाषा चलाकर यहाँ की जनता के सांस्कृतिक विकास को भारी नुकसान पहुँचाया। उन्नीसवीं सदी के अन्तिम चरण में अंग्रेज़ी नीति का विरोध करते हुए भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने हिन्दी जनता में स्वदेश और स्वभाषा

के प्रति प्रेम जगाया। इनके दो प्रमुख सहयोगी अवध के थे; एक प्रतापनारायण मिश्र जिनका गद्य भारतेन्दु के गद्य-जैसा ललित होता था, दूसरे बालकृष्ण भट्ट जो अपने युग के सबसे क्रान्तिकारी लेखक थे।

अवध का पछाहीं भाग बैसवाड़ा कहलाता है। उन्नाव और रायबरेली ज़िलों के लगभग डेढ़ हज़ार वर्गमील के इस इलाके में बसी हुई जनता अपनी बोली, अपनी लोक-संस्कृति, अपनी ऐतिहासिक परंपराओं पर बड़ा अभिमान करती है। यहाँ के लोग अपने जीवट और हेकड़ी के लिए विख्यात हैं। भारतेन्दु ने बैसवाड़े की यात्रा करने के बाद लिखा था कि यहाँ का हर आदमी अपने को भीम और अर्जुन समझता है। इनकी भाषा भी कुछ ऐसी है कि लोग सीधे स्वभाव वात कर रहे हों तो अजनबी को लगेगा कि लड़ रहे हैं। ब्रजभाषा का गुण मिठास है, बैसवाड़ी का पौरुष। बैसवाड़े का शायद ही कोई घर हो, खासकर बाम्हन-ठाकुर का, जिसमें कोई फौज में सिपाही, हवलदार या सूबेदार न रहा हो। कसरत-कुश्ती के शौकीन, मज़बूत काठी वाले, गलमुच्छ रखाए ये सिपाही किसी समय बैसवाड़े के गाँवों की शोभा थे। चौपाल में सुर्ती मलते हुए वे देहात के लोगों को देश-विदेश की खबरें सुनाते थे। बूढ़े होने पर, फ़ौज से अलग होने पर भी, पेन्शन मिलने के कारण ये अपने को औसत किसान से बढ़कर समझते थे।

बैसवाड़ा वर्णगत संकीर्णता का भी गढ़ था। ऊँच-नीच का भेद-भाव अलग-अलग वर्णों के बीच में ही न था, एक ही वर्ण में, विशेष रूप से ब्राह्मणों में—बीघा-बिस्वा के अनुसार—यह भेद बड़ा प्रबल था। आठ कनौजिया नौ चूल्हे की कहावत मशहूर है। अनेक ब्राह्मण मांसाहारी होने पर भी छुआछूत के ऐसे कायल थे कि चमार का लाया ईंधन धोकर जलाते थे। बाल-विवाह, दहेज, पर्दा जैसी अनेक कुरीतियाँ 'ऊँची' जातियों में प्रचलित थीं। इतर वर्णों की स्त्रियाँ मर्दों के साथ खेतों में काम करतीं, लड़ाई-झगड़ा होने पर एक को छोड़कर दूसरे के घर बैठ जातीं, ज़रूरत होने पर उनका न्याय पंचायत करती।

चारों ओर निरक्षरता का राज था। कोसों तक प्राइमरी स्कूल के दर्शन न होते थे। जो दर्जा चहारुम पास कर ले, वह बड़ा विद्वान् समझा जाता था। मिडिल पास गिने-चुने थे। फिर भी लोक-संस्कृति दरिद्र न थी। हर गाँव में रामायण, भागवत, प्रेमसागर जैसे ग्रन्थ बाँचने वाले दो-चार व्यक्ति ज़रूर होते थे। इनसे सुनकर अपढ़ किसान भी धर्म और नीति की बहुत-सी बातें सीख लेते थे, मौके पर रामायण की चौपाई या दोहा उद्धृत कर सकते थे। गिरधर कविराय की कुंडलियाँ, घाघ-भड्डरी की कहावतें, राना बेनीमाधव की वीरता पर बैसवाड़े के ही कवियों के रचे हुए कवित्त, सूर के पद, शृंगार रस के सैकड़ों छन्द हज़ारों किसानों को कण्ठस्थ थे। चौपाल में आल्हा जमने पर आधा गाँव इकट्ठा हो जाता; नौटंकी देखने दूर-दूर के गाँवों से मनचले जवान टूट पड़ते। शूद्रों में कबीर के पदों का चलन खास तौर से था। मुसलमानों का सामाजिक जीवन भी सामन्ती व्यवस्था के ऊँच-नीच वाले भेद-भाव से प्रभावित था। शेख और बेहना एक-दूसरे से वैसे ही दूर थे जैसे कुलीन और धाकर। ताज़ियों में हिन्दू भी शरीक होते थे। अवधी में जब मुसलमान मर्सिये गाते थे, तब सुनने वाले धर्म की बात भूलकर काव्य-रस में डूब जाते थे। प्रायः हर गाँव में किसी नदी, नाले या ताल के किनारे देवी का मन्दिर या शिवाला था जहाँ फ़ुर्सत के समय तमाखू खाने और बातें करने के लिए किसान इकट्ठे होते। पुरुष ज़्यादातर हनुमान के उपासक थे क्योंकि वह बजरंग हैं, बल के देवता हैं। शाम को कनेर के लाल-पीले फूलों से जलभरे लोटे सजाकर खेतों की मेंड़ से कन्याएँ देवी-पूजन को जातीं।

दीवाली की रात खेतों में दिये जलाकर किसान 'धरती माता जागो' की पुकार लगाते। कतकी के पर्व पर सैकड़ों बैलगाड़ियाँ घुँघरू बजातीं गंगा की ओर दौड़ चलतीं। किसान होली में नए अन्न की बालें भूनते, अलैया-बलैया गाँव की सीमा के बाहर भगाते, ढोल-मंजीरे के साथ फाग गाते हुए निकलते। कभी तकिया का मेला, कभी देवी अल्वापन का, कभी पासाखेरे की बजार, कभी पुरवा की, कभी करवा चौथ, कभी बरगदहाई, स्त्रियों-पुरुषों के मनोरंजक सांस्कृतिक कार्यक्रम आएदिन होते ही रहते थे।

गंगा, लोन, सई नदियों से सींची हुई बैसवाड़े की धरती बड़ी उपजाऊ है। यहाँ की घनी अमराइयों में कोसों तक बौर महक उठते हैं, चाँदनी रात में सफेद धरती पर चुपचाप रसभरे महुए टपकते हैं, कोल्हू में ईख पेरी जाती है, कड़ाह में रस खौलता है, चीपी, पतोई, राव की अलग-अलग मिठास की चर्चा होती है, तालों में कहीं लाल-सफेद कमल, रात में खिली

हुई कोकावेली, भीगती हुई सनई की गन्ध, ज्वार के पेड़ों में लिपटी हुई कचेलियों का सोंधापन, जौ और गेहूँ के खेतों में शान्त, बहता हुआ, पुर से निकाला हुआ, कुएँ का पानी—कोई आश्चर्य नहीं कि यहाँ के लोगों को अपनी धरती से बड़ा प्यार है जिसे वे अक्सर तब समझते हैं जब उन्हें बैसवाड़े से दूर कहीं रहना होता है।

●

बात गदर से कुछ साल बाद की है।

गढ़ाकोला, ज़िला उन्नाव में, बैसवाड़े का एक छोटा-सा गाँव है। ज्यादातर लोग गरीब थे। ब्राह्मण लोग हल चलाना आत्म-सम्मान के विरुद्ध समझते हैं, फिर भी गरीबी के मारे गढ़ाकोला के ब्राह्मन खेती करते थे। गाँव के ताल्लुकदार पं० भगवानदीन दुबे छोटे-मोटे रईस थे। समाज की परवाह न करके उन्होंने अपने यहाँ मुसलमान वेश्या रख ली थी। कुलीन-अकुलीन सभी ब्राह्मण उनके यहाँ खाते-पीते थे। किसी में हिम्मत न थी कि उनकी ओर उँगली उठाए। 'समरथ को नहिं दोष गुसाईं'—कहकर लोग चुप हो जाते थे। भगवानदीन दुबे की गरीब रिआया में एक गरीब ब्राह्मण किसान थे शिवाधारी तेवारी। संक्षेप में लोग इन्हें सिधारी पंडित कहते थे। चार लड़के थे—गयादीन, जोधा, रामसहाय और रामलाल। किसानी से घर का खर्च न चल पाता था। काम की तलाश में गयादीन ताल्लुकदार भगवानदीन के यहाँ गये। उन्होंने सिधारी पंडित के लड़के को अपने यहाँ नौकर रख लिया। कोई बहुत बड़ी नौकरी न थी, फिर भी गृहस्थी की गाड़ी चलाने में थोड़ी-बहुत मदद मिल जाती थी। दुर्भाग्य से एक दिन ताल्लुकदार के घोड़े ने उनका हाथ काट लिया। भगवानदीन दुबे ने दया करके उन्हें थोड़ी-सी ज़मीन माफी दे दी। फिर भी दिन तंगी में कट रहे थे। रामसहाय और रामलाल इन दो भाइयों का एक गुट था। ये आपस में बातें करते—खेती में कुछ नहीं धरा, बिगहपुर में फलाने को देखो; कलकत्ता गये थे, दो साल में कमा के घर भर दिया। रामसहाय जवार के कई लोगों को जानते थे जो बंगाल में नौकर थे। खेती में उनका मन न लगता था। परदेश जाने के लिए वह सबसे ज्यादा उत्सुक थे। एक दिन भाइयों में कुछ कहा-सुनी हुई। रामसहाय ने हाथ की खुरपी खेत में गाड़ते हुए कहा—यह खुरपी तभी निकलेगी जब परदेस से कमाकर लौटूँगा।

सिधारी पंडित के जवान लड़के रामसहाय ने सत्तू-चबेना बाँधा, लोटा-डोर लिया और बंगाल के लिए पयान किया। कुछ दूर पैदल चले, बाकी रास्ता रेल से तय किया। कलकत्ता पहुँचकर बैसवाड़े के लोगों से मिले। इनमें कुछ पुलिस में नौकर थे। बंगाल पुलिस में पुरबियों की बड़ी खपत थी। रामसहाय लम्बे-तगड़े जवान थे। भर्ती कर लिये गए। किसानी की हाय-हाय से पिंड छूटा। उन्होंने रामलाल को भी बुलाकर पुलिस में भर्ती करा दिया। दोनों भाइयों का ब्याह हो चुका था, पर रामसहाय की स्त्री का देहान्त हो गया था। रामलाल के लड़का हुआ; नाम रखा बदलू प्रसाद। रामसहाय ने चाँदपुर, ज़िला फतहपुर के दुबों के यहाँ दूसरा ब्याह किया। पुलिस में नौकरी करते कुछ साल बीते थे कि रामसहाय को एक दिन मालूम हुआ कि उनके अफसर चाहते हैं कि अपने भाई रामलाल के साथ वह महिषादल चले जाएँ।

बंगाल के मिदनापुर ज़िले में महिषादल नाम का देशी राज्य था। यहाँ राजा रामनाथ राज करते थे। जब इनका देहान्त हुआ, तब इनकी रानी पति का शव लेकर चिता पर चढ़ गईं। राज्य का उत्तराधिकारी कोई न था। तभी वहाँ पछाँह से ज़िला बाँदा का रहनेवाला लक्ष्मण प्रसाद नाम का गरीब ब्राह्मण युवक भटकता हुआ जा पहुँचा। महाराज रामनाथ की पत्नी ने सती होने से पहले उसी को राजसिंहासन पर बिठा दिया। गदर के बाद लक्ष्मण प्रसाद के पुत्र ईश्वर प्रसाद गर्ग राजा हुए। अंग्रेज़ों को जैसे बंगाल-पुलिस के लिए पुरबियों की ज़रूरत थी, वैसे ही राजा ईश्वर प्रसाद कुछ मातबर आदमी चाहते थे जो बंगाली प्रजा को काबू में रख सकें। उन्होंने अंग्रेज़ अफसरों से बात की, जिसका नतीजा यह कि सिधारी पंडित के दो पुत्र रामसहाय और रामलाल महिषादल में आ गए। काम वही सिपाहियों का था।

रामसहाय 'रामायण, हनुमानचालीसा' का पाठ करने वाले सीधे-सादे ब्राह्मण सिपाही थे। जिसका नमक खाना, ईमानदारी से उसकी तावेदारी करना—यही उनके जीवन का सिद्धान्त था। राजा ने प्रसन्न होकर उन्हें सिपाहियों का जमादार बना दिया।

राजा रामनाथ गर्ग के पुत्र हुआ। सती की महिमा का स्मरण करके उन्होंने उसका नाम रखा सती प्रसाद।

गढ़ाकोला में सिधारी पंडित का देहान्त हो गया। पिता के क्रियाकर्म में रामसहाय और रामलाल ने काफी पैसा खर्च किया। भाइयों में अब फिर हेलमेल हो गया था। रामसहाय

गुस्सैल स्वभाव के थे, पर मन में मैल न जमने देते थे। भाइयों की बराबर मदद करते रहे। इधर ईश्वरप्रसाद गर्ग के बाद उनके पुत्र सती प्रसाद गर्ग राजा हुए। उनसे भी रामसहाय और रामलाल की अच्छी निभती रही। रामसहाय ने कुछ पैसे जोड़ लिए थे। अपनी पत्नी के लिए कुछ गहने बनवाए; अपने लिए उन्होंने बड़ी गुरियों का एक कंठा बनवाया। सोने का कंठा पहने बिना गाँव में कोई इज्जतदार न कहलाता था। रामसहाय की वह साध भी पूरी हुई। एक ही साध बाकी थी। वह चालीस पार कर चुके थे और अभी सन्तान का मुंह न देखा था। आखिर महावीर स्वामी ने वह साध भी पूरी की।

माघ शुक्ल ११, संवत् १९५५,[१] तदनुसार २१ फरवरी १८९९ को रामसहाय तेवारी के घर पुत्र-जन्म हुआ। उस दिन मंगल था; महावीर स्वामी ने अपनी पूजा के ही दिन रामसहाय को पुत्र का मुंह दिखाया। दरवाज़े पर बाजे बजे; नाई, धोबी, डोम वगैरह नेग माँगने आये। महिषादल में अवध के और परिवार भी रहते थे, कई घर बैसवाड़े के ही लोगों के थे। इन सबसे स्त्रियाँ आईं; सोहर होने लगे। थोड़ी देर के लिए रामसहाय को लगा कि वह गढ़ाकोला में ही उत्सव मना रहे हैं। खैर, अभी न सही, जैसे ही मौका मिला, वह पुरखों की डेहरी छुलाने बच्चे को गाँव ज़रूर ले जाएँगे।

पंडित ने जन्मकुंडली बनाई। कहा—लड़का मंगली है, दो ब्याह लिखे हैं; है बड़ा भाग्यवान, बड़ा नाम करेगा। इसका नाम रखो—सुर्जकुमार। रामसहाय ने सोचा—दो ब्याह हमारे हुए, बेटा भी कुल की रीति निबाहेगा।

सुर्जकुमार पड़ोस की स्त्रियों के खिलौना हो गए। रंग-रूप देखकर वे कहतीं—महतारी तो साँवली है मुला बेटवा गोरा है; बाप को पड़ा है, आँखें और नाक हूबहू जमादार की-सी हैं।

रामसहाय को ढलती उम्र में पुत्र का मुँह देखने को मिला पर अब एक नयी चिन्ता सताने लगी। उनकी पत्नी का स्वास्थ्य ठीक न रहता था। वास्तव में सौर से निकलने के बाद वह फिर पनपी ही नहीं। सुर्जकुमार अभी बोलना सीख रहे थे, करीब ढाई साल के हुए होंगे कि उनकी माँ इस संसार से विदा हो गईं।

रामसहाय की सारी ममता बेटे पर केन्द्रित हो गई। अभी वह पैंतालीस के होंगे। इस उम्र में तीसरा ब्याह करना कोई अनहोनी बात न थी। पर अब उनकी इच्छा ब्याह करने की न थी। वह बेटे को नहलाते-धुलाते, भोजन कराते, रात को अपने पास सुलाते। पर दिन में हमेशा अपने पास रखना संभव न था। नौकरी पर जाते समय वह अपने मित्र ज्वाला प्रसाद शुक्ल के दरवाज़े पर आवाज़ देते; उनकी पत्नी निकल-कर आतीं। सुर्जकुमार को उनके सुपुर्द करके रामसहाय काम पर चले जाते। ज्वालाप्रसाद शुक्ल के भी एक लड़का था। नाम था रामशंकर, उम्र में सुर्जकुमार से चार-पाँच साल बड़ा था। दोनों बच्चे साथ खेला करते। परदेस में एक ही गाँव-जवार के लोग आपस में बड़ा भाईचारा मानते हैं, सुख-दुख में एक-दूसरे का साथ देते हैं। सुर्जकुमार को हर तरफ स्नेह मिलता था; स्त्रियाँ हाथों-हाथ रखतीं। बाप का लाड़ अलग। जो खाने-पहनने को माँगते, वही मिल जाता। सुर्जकुमार स्वभाव से खिलाड़ी, नटखट और कुछ-कुछ ज़िद्दी भी हो चले।

सुर्जकुमार की खेलने की जगह महल की हद से बाहर एक ताल के किनारे थी जहाँ उनके बाप कच्चे घर में रहते थे। दूर पर राजमहल दिखाई देता था, बहुत बड़ा, खूब शानदार, उसके सामने कच्चे घर बहुत ही तुच्छ मालूम होते थे। वहाँ राजा रहते हैं, हम उनके नौकर हैं, यह भेद सुर्ज-कुमार की समझ में आने लगा। बाप के साथ कभी-कभी वह महल की तरफ जाते। हर तरफ हरी-हरी दूब के मैदान, सुन्दर फलों वाले पेड़ और फूल-ही-फूल दिखाई देते। कमल, गुलाब, बेला, जुही की अरघानें सुर्जकुमार का दिमाग तर कर देतीं। पर यह सब दूर से देखा जा सकता है। बाप समझा देते, यहाँ खेलना मना है।

रामलाल का लड़का बदलू प्रसाद अब बारह साल का हो रहा था। उसका ब्याह करना ज़रूरी था। इस तरह का हर काम-काज गढ़ाकोला में ही हो सकता था। यह अच्छा अवसर था जब रामसहाय बच्चे को लेकर पुरखों की डेहरी छुआ लाते। बदलू का ब्याह करके रामलाल के साथ वह गाँव आये।

सुर्जकुमार ने पहली बार बेर और बबूल के जंगल, बड़े-बड़े ऊसर, गाँव के किनारे सूखी लोन नदी देखी। आमों के बाग थे, पर वैसी घनी हरियाली यहाँ न थी जैसी महिषादल में देखी थी। यहाँ का घर वैसा ही कच्चा, टूटा-फूटा जैसा महिषादल वाला था। भगवानदीन दुबे का घर पक्का था, पर राजा के महल के सामने बिल्कुल टुच्चा। सुर्जकुमार 'सहिबाला' बनकर

भाई के साथ डोली में बैठे; ब्याह कितना बढ़िया तमाशा होता है, यह उन्होंने देखा।

गाँव में भी सुर्जकुमार को अपना प्यार-दुलार करने वाले बहुत से मिले। इनमें ताल्लुकदार भगवानदीन दुबे की पतुरिया भी थी। सुर्जकुमार को उसका व्यवहार बहुत अच्छा लगा। वह मिठाई खिलाती, प्यार करती और गाना भी सुनाती। सुर्जकुमार ने गाँव की अन्य स्त्रियों को भी गाते सुना, पर इसका गला उन सबसे ज़्यादा सुरीला था। कपड़े भी अच्छे पहनती है, साफ-सुथरी रहती है, बाल सुन्दर ढंग से सँवारती है। यह गाँव की दूसरी औरतों की तरह नहीं है। वे सब इसे पतुरिया कहकर हँसती हैं। क्यों हँसती हैं, यह सुर्जकुमार की समझ में न आता था, पर वह उन्हें अच्छी ज़रूर लगती थी।

होते-करते बदलूप्रसाद का गौना भी हो गया। घर में रोटी बनाने की समस्या हल हो गई। रामलाल की पत्नी का देहान्त हो चुका था। दोनों भाई हाथ से ठोंककर खाते थे। अब बदलूप्रसाद की नवयुवती पत्नी महिषादल आ गई। सुर्जकुमार को अपनी भौजाई बहुत अच्छी लगती थीं; वह उनको प्यार भी बहुत करती थीं। पर चौके-चूल्हे, नहाने-धोने के नियम-कायदों की बड़ी पाबन्द थीं। इधर सुर्जकुमार की समझ में ये नियम-कायदे आते न थे। खेल-कूद में रहते थे, पढ़ने-लिखने से अभी कोई वास्ता न था।

एक दिन शाम को सुर्जकुमार ने घर के पास हाजत रफा की। ठंड के दिन थे, सोचा कौन ताल में सौंचने जाए। कुछ पत्तों से जगह पोंछकर घर पहुँच गए। उधर इनकी भाभी खिड़की के पास खड़ी यह सब तमाशा देख रही थी। इन्हें भूख लगी थी। सीधे रसोईघर में जाने ही वाले थे कि भाभी ने रास्ता रोक लिया और पंडित रामसहाय को सारा हाल बता दिया। रामसहाय उठे। सुर्जकुमार का हाथ पकड़कर उठा लिया। टाँगे हुए ताल तक ले गए। फिर पानी में डुबो-डुबोकर कहने लगे—सौंचता जा, सौंचता जा। सुर्जकुमार ने जब सौंच लिया, तब रामसहाय ने दो-चार तमाचे और लगाए। बाह्मन का लड़का, सौंचे बिना चौके में जा रहा था। सुर्जकुमार को इस बारे में अब तक कोई स्पष्ट निर्देश न मिला था, इसलिए पिता ने जो दण्ड दिया, वह उन्हें अन्याय लगा।

सुर्जकुमार महल्ले के लड़कों के नेता हो गए। गोली खेलने में वह सबके उस्ताद थे। ज़्यादा समय खेल-कूद में बीतता था। पर अब वह घर में ककहरा और गिनती सीखने लगे। रामसहाय सोते समय गिनती सिखाते। जब गिनती आ गई तब पहाड़े सिखाने लगे। कभी वह भजन गाते, हनुमान चालीसा पढ़ते, या रामायण का पाठ करते। देवी-देवताओं की कहानियाँ वह सुर्जकुमार को सुनाते। सुर्जकुमार को कहानियाँ सुनने में बड़ा मज़ा आता था। कहानी सुनाने के लिए भाभी को तंग करते। कभी-कभी पिता की नकल करते हुए वह महावीर की पूजा भी करने बैठ जाते। रामसहाय ने सोचा—अब लड़के का जनेऊ कर देना चाहिए। उसके बाद इसे स्कूल में भर्ती कराएँगे।

सुर्जकुमार पिता के साथ गढ़ाकोला आए। अब वह आठ साल के हो गए थे। लोगों से सुनते कि जनेऊ हो जाने के बाद लड़के हर किसी के हाथ का छुआ खा-पी नहीं सकते।

सुर्जकुमार सोचते, आखिर जनेऊ पहनने से ऐसा क्या हो जाएगा कि मैं दूसरे का छुआ खा न सकूँगा। पतुरिया के लड़कों से दोस्ती थी। उनके यहाँ आना-जाना बन्द करना पड़ेगा। अब ताल्लुकदार भगवानदीन दुबे नहीं थे। समाज में इस परिवार का मान घट गया था। जब ताल्लुकदार ने बड़े लड़के शमशेर बहादुर का जनेऊ किया था, तब ब्रह्मभोज में सब बाह्मन शामिल हुए थे। पर अब इन्हीं लोगों ने उनके यहाँ खाना-पीना बन्द कर दिया था। पतुरिया के छोटे लड़के फतहबहादुर ने सुर्जकुमार से कहा, "अभी तुम हमारे यहाँ का खाते हो, जब जनेऊ हो जाएगा, न खाओगे।" उन्हें यह भी याद दिलाया कि उनके ताल्लुकदार पिता ने सुर्जकुमार के बड़े चाचा को ज़मीन माफी दी थी। फतहबहादुर की बहन परागा ने कहा, "बदलू सुकुल के यहाँ महुए की लप्सी खाओगे, हमारे यहाँ हलुआ नहीं।" सुर्जकुमार ने तय किया कि जनेऊ के बाद भी इनके यहाँ खाएँ-पिएँगे, देखें कोई क्या कर लेता है।

भैया चार आए। यज्ञोपवीत संस्कार पूरा हुआ। प्रथा के अनुसार सुर्जकुमार ने हठ किया कि विद्या पढ़ने काशी जाएँगे; माँ की जगह काकी ने मनाते हुए कहा, बेटा मान जाओ, घर छोड़कर मत जाओ। पंडितजी ने मंत्र पढ़े। सुर्जकुमार ने जनेऊ पहना; अब वह बाकायदा द्विज हुए। पिता ने सावधान किया, "अब आज से, खबरदार, पतुरिया के घर का कुछ खाना-पीना मत।" सुर्जकुमार को याद आया कि

पतुरिया मुसलमान है, उसके लड़के अपने को पंडित समझते हैं, इसलिए माँ होने पर भी उसे भोजन दूर से देते हैं। पिता से बोले, "पतुरिया का छुआ तो उसके लड़के भी नहीं खाते-पीते।" रामसहाय ने कहा, "उनके हाथ का भी मत खाना।" पर सुर्जकुमार ने हुज्जत की, "जब ताल्लुकदार थे, तब आप लोग उनका छुआ खाते थे?" इस पर रामसहाय ने डाँटकर कहा, "हम जैसा कहते हैं कर।"

एक दिन पतुरिया-पुत्र फतहबहादुर कुएँ पर नहा रहे थे कि उधर सुर्जकुमार निकले। इन्हें देखकर फतहबहादुर व्यंग्य से मुस्कराए। मतलब यह कि अब तुम्हारी हिम्मत नहीं कि हमारे यहाँ खाओ-पियो। सुर्जकुमार ने मतलब समझकर कहा, "भैया, पानी पिला दीजिए।" फतहबहादुर ने प्रसन्न होकर पानी पिलाया, गाँव के जो ब्राह्मण उन्हें अपमानित करते थे, उनसे उन्होंने इस तरह बदला लिया। ब्राह्मणों को मालूम हुआ। उन्होंने जाकर रामसहाय से शिकायत की—"आपका लड़का सबके सामने पतुरिया के छोटे लड़के का भरा पानी उन्हीं के लोटे से पी रहा था। अभी नादान है, इसलिए इस दफ़ा माफ किए देते हैं; फिर अगर हरकत करते देखा गया, तो हमें लाचार होकर आपसे व्यवहार तोड़ना होगा।" शिकायत सुनकर रामसहाय तेवारी को बड़ा क्रोध आया, सुर्जकुमार की अच्छी तरह मरम्मत कर डाली। पर इससे पतुरिया-परिवार से सुर्जकुमार का स्नेह-सम्बन्ध टूटा नहीं। कुछ दिन बाद उन्होंने फिर वैसी ही हरकत की। और यह चोरी-छिपे नहीं वरन् खुलकर, जिससे दम्भी विप्रवर्ग को सब-कुछ मालूम हो जाए। गाँव के मुखिया ने रामसहाय से कहा, क्या तुम दूसरों का धर्म लेना चाहते हो? आज तुम्हारा लड़का पतुरिया के लड़के से ले-लेकर भुने चने चबा रहा था। आज से गाँव के ब्राह्मणों में तुम्हारा व्यवहार बन्द है।"

रामसहाय तेवारी के स्वभाव में क्रोध और स्वाभिमान की मात्रा बराबर थी। इसके सिवा वह सुर्जकुमार को प्यार भी करते थे; क्रोध में आकर जब-तब हाथ छोड़ बैठते थे पर यह आवेश क्षणिक होता था। जाति-विरादरी की मर्यादा के लिए वह अपने प्यारे पुत्र की फिर ठुकाई करें, यह असम्भव था। इस बार उनका सारा क्रोध मुखिया पर बरस पड़ा। उन्होंने डाँटकर कहा, "तू हमारा पानी बन्द करेगा? तू पासी का है, गाँव में जा और पूछ, तेरी लड़की पटने में एक-दो-तीन-चार, एक-दो-तीन-चार कर रही है—हम अपनी आँखों देख आए हैं। माना कि चौधरी भगवानदीन का काम वेजा था, लेकिन उनके सामने कहते। नहीं, जब तक वह जिए इन्हीं लड़कों की धो-धोकर पीते रहे, अब सब छंगे के बने फिरते हो? शहर में होते तो देखते हम, कितने आदमियों का बम्बे का पानी और डॉक्टर की दवा छुड़ाते हो। यहाँ क्या नाम के करने को कौन-सा काम और गाने को छीता-हरन।"

मुखिया से कुछ जवाब देते न बना। अपना-सा मुँह लेकर चले गए। रामसहाय ने बेटे का पक्ष ही नहीं लिया, मुखिया के विरुद्ध उसीका दिया हुआ तर्क भी इस्तेमाल किया, सुर्जकुमार ने ही उनसे पूछा था, "जब ताल्लुकेदार थे, तब आप लोग उनका छुआ खाते थे?" रामसहाय ने पुत्र को डाँट दिया था, पर मन में उसकी तर्क-बुद्धि के कायल थे।

जनेऊ के बाद सब लोग महिषादल आए। रामसहाय ने अब सुर्जकुमार की पढ़ाई की ओर ध्यान दिया। महिषादल में हाई स्कूल था ही। उन्होंने सुर्जकुमार को उसी में भर्ती कराने का विचार किया। १३ सितम्बर १६०७ को महिषादल स्कूल की कक्षा ८ सेक्शन बी में सुर्जकुमार का नाम लिखा दिया गया। पिता और गार्जियन—रामसहाय तेवारी; निवास स्थान—गढ़ाकोला, उन्नाव; पेशा—नौकरी; 'रिमार्क्स' के खाने में हेडमास्टर जे० एन० कुन्जीलाल ने लिखा—'ऐडमीशन फ्री।' राजकर्मचारी का लड़का था, भर्ती होने की फीस नहीं ली गई। उम्र दो साल बढ़ाकर लिखाई गई—दस साल, आठ महीने। सुर्जकुमार की क्लास के दूसरे लड़के ज्योतीपचन्द्र, विभूति भूषण आदि चौदहवें, पन्द्रहवें साल में थे; सुर्जकुमार का अभी नवाँ ही चल रहा था कद में लम्बे होने पर भी वह अपनी कक्षा में सबसे कम उम्र वाले लड़कों में थे। अब तक घर पर कोई नियमित पढ़ाई भी न हुई थी, इसलिए दर्जे में उनका कमज़ोर रहना अनिवार्य था।

इस वर्ष एक महत्त्वपूर्ण घटना और हुई। बंगाल के लाट सर फ्रांसिस ड्यूक महिषादल पधारे। महिषादल के राजा के साथ उन्होंने फोटो खिचाया। बीच में ऊँची कुर्सी पर लाट साहब बैठे। कुर्सी इतनी ऊँची थी कि लाट साहब के पाँव मुश्किल से ज़मीन तक पहुँचते थे। उनके दाएँ नीची कुर्सी पर राजा सती प्रसाद गर्ग बहादुर बैठे, बाएँ वैसी ही दो नीची कुर्सियों पर राजपरिवार के दो अन्य सदस्य। पीछे

एक चपरासी, शेष सिपाही हाथ में तलवारें खींचे खड़े हुए। इस लाइन में गवर्नर की बाईं ओर एकदम सिर पर रामसहाय तेवारी खड़े हुए। लाइन में खड़े हुए लोगों में वह सबसे लम्बे थे। सिर पर कामदार गोल टोपी, गले में सोने का कंठा, भव्य दाढ़ी-मूँछें, लम्बी नाक, बड़ी आँखें, बिर्जिस पर फौजी कोट, आँखों में थकन, हाथ में नंगी तलवार, बढ़ते हुए पेट को पेटी से कसे हुए—गढ़ाकोला-निवासी पं० रामसहाय तेवारी, महिषादल राज में सिपाहियों के जमादार ने लाट साहब के साथ फोटो खिंचाई।

आठवें दर्जे के छात्र सुर्जकुमार तेवारी बंगाली लड़कों में बँगला बोलते हुए राजा, अंग्रेज़, जमादार—इन शब्दों का अर्थ समझने लगे। गढ़ाकोला से महिषादल कितना भिन्न है। कहाँ वह छोटी-सी लोन नदी, कहाँ यह विशाल नद रूपनारायण! हर तरफ़ पानी-ही-पानी दिखाई देता है, नदियाँ, नाले, तालों की तो गिनती नहीं। उपजाऊ धरती, हर तरफ वृक्ष, लताएँ, घास, फूल और काँटे, सब बेसँभाल बढ़ते-फैलते हुए; क्षितिज तक फैले हुए सुनहले धान के खेत, बीच में खेतों को चीरती हुई सड़क, आस-पास और क्षितिज पर गहरे हर रंग के वृक्षों की पाँति। दृश्य सुन्दर किन्तु मलेरिया का प्रकोप, सारा क्षेत्र विषैले साँपों से भरा हुआ।

राजमहल के चारों ओर प्रशस्त उद्यानभूमि, हरी दूब वाले बड़े-बड़े पार्क, पानी से भरी हुई परिखा में कमल, बड़े-बड़े लाल गुलाबों से भरा हुआ पूरा एक मैदान, बेला, जुही, हरसिंगार, बकुल, चम्पा के ऋतु-अनुसार फूल, आम, जामुन, लीची, फालसे, अनार, कटहल के वृक्ष, जगह-जगह बाँसों के झाड़, नारियल के पेड़ हर तरफ़। सुर्जकुमार ने पिता के साथ उन कमरों की झलक भी देखी जिनमें जरी के काम वाले वस्त्र, जवाहरात, सोने के आभूषण, कीमती बर्तन रखे जाते थे। बड़े-बड़े सन्दूकों में राजकोष कहाँ रखा रहता है, इसका आभास भी उन्हें था। महल के हर निवास पर पहरा रहता है, यह भी उन्हें मालूम था। चौधरी भगवानदीन दुबे गढ़ाकोला में ताल्लुकेदार कहलाते थे; महिषादल में उनकी हैसियत एक मामूली नौकर से ज्यादा न होती। महिषादल राज्य लगभग चार सौ वर्गमील का क्षेत्र घेरे हुए था, सालाना आमदनी बारह लाख थी। तीन लाख छत्तीस हज़ार तो सरकारी मालगुज़ारी देनी होती थी।

एक दिन सुर्जकुमार ने पिता से कहा, "तुम्हारे मातहत इतने सिपाही हैं, तुम इस राजा को लूट क्यों नहीं लेते?" रामसहाय को शक हुआ कि उनके बेटे को किसी दुश्मन ने बरगलाया है। उन्होंने पूछा, किसने सिखाया है? सुर्जकुमार ने जितना ही इन्कार किया, उतना ही उनका शक पक्का होता गया। उन्होंने लड़के को बहुत मारा, इतना मारा कि सुर्जकुमार बेहोश हो गए।

रामसहाय तेवारी वफादर सिपाही थे। जिसका नमक खाया था, उसके बारे में इस तरह की बात सुन भी न सकते थे। आखिर राजा अवध के इन सिपाहियों को नौकर क्यों रखते हैं? इसलिए कि राजा का नमक खाकर बंगाली प्रजा के विरुद्ध वह राजा का हुक्म बजा लाने में ज़रा भी आगा-पीछा न करते थे।

राजा ईश्वरप्रसाद ने रामसहाय को अपने यहाँ नौकर रखा था, उनके पुत्र सतीप्रसाद पर रामसहाय की सहज ममता थी। अब वह साठ के नज़दीक पहुँच रहे थे। इस उम्र में राजा के खिलाफ़ बग़ावत? पुत्र पर क्रोध करना स्वाभाविक था। फिर राजा क्षत्रिय न होकर ब्राह्मण थे। अलबत्ता कान्यकुब्ज न थे, सरयूपारीण ही थे पर थे तो ब्राह्मण। पछाँह से उनका सम्बन्ध था। घर के लोग साफ़ हिन्दी बोलते थे। हर दृष्टि से सुर्जकुमार का सुझाव उन्हें किसी शत्रु का रचा हुआ षड्यंत्र ही लगा।

सुर्जकुमार को राह पर लाने के लिए उन्होंने एक काम और किया। अपने गुरुजी के पास ले जाकर उन्हें गुरुमन्त्र दिला लाए, सुर्जकुमार और अपने भतीजे बदलूप्रसाद का भविष्य सुखी बनाने के लिए उन्होंने गढ़ाकोला वाला घर नये सिरे से बनवाया। नया घर भी कच्चा था पर काफ़ी बड़ा था और परिवार के रहने लायक था।

सुर्जकुमार के दिन मज़े में कट रहे थे। स्कूल में भर्ती होने से उनके खेलकूद के प्रोग्राम में कोई तब्दीली नहीं हुई थी। महल्ले में लड़कियाँ हैं, उन्हें देखना अच्छा लगता है, सुर्जकुमार यह समझने लगे थे। कोर्स की किताबें अच्छी न लगती थीं पर इन्द्रजाल की पोथी पढ़कर मारण, मोहन, उच्चाटन, वशीकरण के बारे में वह बहुत-कुछ जान गए थे। एक दिन इन्द्रजाल की पोथी के अनुसार उन्होंने मंत्र सिद्ध करने का विचार किया। रात के नौ बजे होंगे। वह भाभी की कोठरी में थे कि छछूँदर दिखाई दी। उन्होंने उठकर तुरत किवाड़ बन्द किए, फिर धोती उतारकर फेंक दी; हाथ

में जूता लेकर छछूंदर के पीछे दौड़ने लगे। उल्टे जूते से छछूंदर मारनी थी। बड़ी मुश्किल से मार पाए। फिर हाँडी में भरकर उसे बाहर गाड़ आए। लौटकर धोती पहनी।

स्त्रियों में चर्चा होने लगी कि सुर्जकुमार को मंत्र सिद्ध है, उनकी झाड़-फूंक से रोगी अच्छे हो जाते हैं। पड़ोस में सुकुलाइन नाम की युवती को यह सब ढोंग मालूम हुआ। उन्होंने अपनी शंका सुर्जकुमार की भाभी के सामने प्रकट की। भाभी ने सुर्जकुमार को ललकारा—"लोग कहते हैं, तुझे जंत्र-मंत्र कुछ नहीं आता, तू ढोंग करता है।" सुर्जकुमार ने सिद्ध पुरुष की तरह आत्मविश्वास से जवाब दिया, "जिसको विश्वास न हो, आज़मा ले।" भाभी ने कहा कि सुकुलाइन को अपनी करामात दिखाओ। सुर्जकुमार एक कनेर का फूल तोड़ लाए और बोले—"मैं मन्त्र पढ़कर यह दूंगा। इसे लेना होगा। बस, इसके बाद मैं सिद्ध हूँ या नहीं, देख लेना।" भाभी फूल लेने से डरीं; सुकुलाइन से कहा, फूल ले लो। वह बोलीं, "फूल लेने से क्या होगा?" सुर्जकुमार ने जवाब दिया, "मन्त्र के ज़ोर से हमेशा मेरे पीछे लगे रहना होगा। मैं जहाँ-जहाँ जाऊँगा, पीछे-पीछे जाना होगा।" सुकुलाइन की हिम्मत पस्त हो गई। भाभी से बोलीं, "भई, मैं बहिन हूँ, मैं कैसे फूल ले लूं? तुम भाभी हो, तुमको उतना दोष नहीं।" इस तरह कनेर का फूल दिखाने से ही सुर्जकुमार इस मारन-उच्चाटन युद्ध में विजयी हुए।

रामसहाय तक ये बातें पहुँची हों चाहे नहीं, कुलरीति के अनुसार पुत्र का ब्याह कर देना ज़रूरी था। अभी उम्र बारह के आस-पास थी, ब्याह की कोई जल्दी न थी, पर गाँवों में लड़कों का ब्याह इस उम्र तक कर दिया जाता था। डलमऊ में रामदयाल द्विवेदी के यहाँ बात पक्की हुई। लड़की की उम्र करीब ग्यारह साल।

रामसहाय गाँव आए और सुर्जकुमार के ब्याह की तैयारी शुरू हो गई। सात सुहागिनों ने एक साथ मूसल पकड़कर धान कूटे, एक साथ दरेती का खूंटा पकड़कर उड़द दले। उड़द की दाल भिगोई गई। रामसहाय को बूढ़ी भौजाई के साथ चौक पर बिठाया गया। दोनों की गाँठ जोड़ी गई और दोनों ने दाल पीसने की रस्म पूरी की। फिर उड़द की धोई के बड़े तले गये। गेरू से दरवाजे पर भाँई बनाई गईं; उन्हें बरा-भात खिलाया गया। हर रोज ढोलक बजती, गीत होते। नाइन सुर्जकुमार के उबटन लगाती। आखिर निकासी का दिन आया। सुर्जकुमार को हाथ-पैरों में कड़े पहनाये गए, गले में कंठा, पीली धोती, पीला जामा, पीली पगड़ी पहनाई गई। सिर पर मौर रखा गया। झैंयम-झैंयम करते बरात गढ़ाकोला से रवाना हुई।

डलमऊ पहुँचने पर बरातियों को मिर्चवान पिलाई गई; फिर नाश्ते के लिए पूड़ियाँ आईं। बरातियों ने हाथ-मुँह धोया, नाश्ता किया, कपड़े बदले। अगवानी हुई। हँसी-मज़ाक करते लोग फिर जनवासे लौट आए। कुछ देर बाद भाँवरों के लिए बुलावा आया। मंडप के नीचे पंडित ने मंत्र पढ़े; सुर्जकुमार और मनोहरादेवी की गाँठ जोड़ी गई। दोनों ने भाँवरें घूमीं। फिर देवताओं के सामने वर-वधू ने एक-दूसरे को दही-बताशे खिलाए। मनोहरादेवी घूंघट मारे थीं; सुर्जकुमार उनका मुँह देखने में असफल रहे। दूसरे दिन भात के समय सुर्जकुमार ने स्त्रियों को गालियाँ गाते सुना। शाम को छोटी बढ़ार और तीसरे दिन बड़ी बढ़ार के समय भी यही सिलसिला जारी रहा। ब्याह हो गया पर बहू अपने मायके ही रही। सुर्जकुमार पिता और बरातियों के साथ गढ़ाकोला वापस आए। वहाँ कुछ दिन रहने के बाद सब लोग फिर महिषादल आ गए।

सुर्जकुमार महिषादल में फिर पहले जैसा जीवन बिताने लगे। खेल-कूद में ज्यादा समय पहले ही जाता था, अब पढ़ने में मन और भी कम लगता। अब वह फुटबाल के अच्छे खिलाड़ी हो गए। तैरने में भी कुशल थे। नाटक देखने में उन्हें विशेष आनन्द आता था। महल के पास ही नाट्यशाला थी जहाँ राजा सतीप्रसाद जब-तब नाटक कराते थे। बँगला नाटक 'तरुबाला' में सुर्जकुमार ने एक 'हिन्दुस्तानी' का पार्ट किया। कुछ दिन बाद वहाँ स्टार थियेटर आया। उसके रंगमंच की चमक-दमक, अभिनेताओं और अभिनेत्रियों के ठाठ-बाट देखकर सुर्जकुमार को लगा—सबसे बढ़िया जीवन इन्हीं का है।

नाटक, खेल-कूद के साथ सुर्जकुमार ने अपने शरीर को सुदृढ और सुन्दर बनाने की ओर ध्यान दिया। महिषादल का वातावरण ही ऐसा था। हर सिपाही थोड़ी-बहुत डंड-बैठक करता था। दूसरे राजा-रईसों की तरह महाराज सतीप्रसाद गर्ग के यहाँ भी अच्छे-अच्छे पहलवान थे। स्वयं महाराज सतीप्रसाद अपने पराक्रम के लिए प्रसिद्ध थे।

एक बार कलकत्ते में कोई सरकस आया। उसमें एक

पहलवान ने घुटने से लोहे की मोटी छड़ दबाकर मोड़ दी। फिर उसने चुनौती दी, जो कोई ऐसी ही छड़ मोड़ देगा, उसे एक हज़ार रुपया इनाम मिलेगा। राजा सतीप्रसाद के साथ उनके मित्र बंगाल के प्रसिद्ध डॉक्टर और राजनीतिज्ञ विधानचन्द्र राय सरकस देख रहे थे। उन्होंने खड़े होकर अपनी ओर से ऐलान कर दिया, राजा सतीप्रसाद गर्ग छड़ मोड़ेंगे। बंगाल के सम्मान का प्रश्न था। लोगों ने ज़ोरों से तालियाँ बजाईं। राजा उठे और पहली से भी ज्यादा मोटी छड़ लेकर घुटना लगाये बिना ही दोनों हाथों से मोड़कर उन्होंने बँगला के चार का अंक बना दिया। फिर उन्होंने कहा, जो इसे सीधा कर देगा, उसे दो हज़ार रुपये इनाम मिलेंगे। किसी ने वह चुनौती स्वीकार न की।

सुर्जकुमार कसरत करते, बादाम छानते, रामायण पढ़ते और मित्रों से गप लड़ाते। राजमहल के सामने जो बड़ी नहर थी, उससे कलकत्ते आने-जाने वाले स्टीमर देखते, किश्तियों में लोग माल ढोकर लाते, छोटा-सा बाज़ार जैसा उन्होंने अपने गाँव से कुछ दूर पुरवा में देखा था, स्कूल के पास ताल के किनारे बैठकर मित्रों से सुनते, कैसे इसी मिदनापुर ज़िले में प्रसिद्ध उपन्यासकार बंकिमचन्द्र सरकारी अफसर थे और यहाँ अपने एक-दो उपन्यास भी उन्होंने लिखे थे। बंगाली जाति महान् है, बँगला भाषा के समान भारत की कोई भाषा नहीं है, रवीन्द्रनाथ संसार के सर्वश्रेष्ठ कवि हैं, सुर्जकुमार बंगाली नहीं 'हिन्दुस्तानी' हैं, यह सब ज्ञान एंट्रेंस परीक्षा देने से पहले ही मित्रों ने उन्हें करा दिया। सुर्जकुमार बँगला की अपेक्षा हिन्दी ही ज्यादा जानते थे। उनका मन भक्ति-साहित्य और शृंगार रस की कविता, दोनों में ही रमता था। उन्होंने ब्रजभाषा की काफी कविता पढ़ डाली थी। पद्माकर उनके प्रिय कवि थे। उनकी सानुप्रास शब्दावली, शृंगार वर्णन में भी ओजगुण का पुट सुर्जकुमार को विशेष पसन्द था। पद्माकर के शृंगार वर्णन की चित्रमयता उनका मन मोह लेती थी। स्मरण-शक्ति अच्छी थी, दो-तीन बार पढ़ने पर छंद कंठस्थ हो जाते थे। संस्कृत काव्य भी अच्छा लगता था, विशेषकर जहाँ शब्द-योजना सुन्दर हो और शृंगार के चित्र खींचे गये हों। सुन्दर कवि ने राजा की लड़की विद्या से प्रेम किया, राजा ने उसे प्राणदंड दिया, जब प्रहरी उसे सूली देने ले जा रहे थे तब वह अपने और विद्या के प्रेम-सम्बन्ध पर छन्द पढ़ता हुआ राज-प्रासाद के सामने से निकला। उनमें एक छन्द यह था :

अद्यापि तां कनकचम्पक दाम गौरीम्
फुल्लारविन्दनयनां तनुरोम राजिम्।
सुप्तोत्थितां मदन विह्वलिता लसांगीम्
विद्यां प्रमाद गलितामिव चिन्तयामि।

राजा ने छन्दों पर मुग्ध होकर प्राणदण्ड की आज्ञा रद्द कर दी। सुर्जकुमार को विद्या सुन्दर की कहानी बहुत पसन्द आई। 'चौर पंचाशिका' का उपर्युक्त छन्द वह खूब रस लेकर गुनगुनाते रहते।

ब्याह हुए दो वर्ष बीत गए थे। सोलह के नज़दीक पहुँच रहे थे। लोग कहते थे, कंठ फूट आया, मसें भीगने लगीं; बगलें निकल आईं, अब गौना कर देना चाहिए। सुर्जकुमार अपनी रानें देखते, बोतल जैसी ढली हुई लगतीं। कमर बालिश्त भर, सीना खूब चौड़ा, सिर पर घने काले बाल, गोरा रंग, मदभरी आँखें, सुर्जकुमार अपनी ही छवि पर मुग्ध हो जाते। साथ ही कनकचम्पक दाम गौरी विद्या का चित्र भी आँखों के सामने घूम जाता। रामसहाय तेवारी ने तै किया कि लड़के का गौना कर देना चाहिए और बहू को महिषादल ले आना चाहिए।

पुत्र को लेकर रामसहाय गढ़ाकोला पहुँचे, वहाँ से गौना लेने डलमऊ गए। सुर्जकुमार की ससुराल में इस बात की बड़ी चर्चा थी कि गौने के बाद बिटिया परदेश—बड़ी दूर बंगाल—चली जाएगी। वर-वधू की गाँठ जोड़कर उनसे जब पूजा कराई जा रही थी, तब घर की एक वृद्धा ने कहा, "दामाद जवान, बिटिया जवान; परदेश ले जाते हैं तो ले जाने दो।" लोग उन्हें जवान समझते हैं, यह जानकर सुर्जकुमार को विशेष प्रसन्नता हुई। गौना हुआ। बहू को विदा कर रामसहाय गाँव आए। दुर्भाग्य से वहाँ उन दिनों प्लेग की बीमार फैली हुई थी। लोग घरों से निकलकर बाग में झोंपड़े डालकर रहते थे। महुए के पेड़ के नीचे एक झोंपड़े में सुर्जकुमार का बिस्तर लगाया गया। जीवन में पहली बार उन्हें नारी-देह के स्पर्श का सुखद अनुभव हुआ। मनोहरा देवी कुल तेरह साल की थीं।

गौना लेकर आये अभी चार-पाँच दिन ही बीते थे कि सुर्जकुमार के ससुर अपनी बिटिया विदा कराने आ पहुँचे। गाँव में बीमारी फैली है, यह उन्हें मालूम था। बेटी को बहुत प्यार करते थे। डर था कि महामारी में उसे कुछ हो न जाए। लड़की के यहाँ लोग खाते नहीं हैं; रामदयाल दुबे ने गढ़ाकोला में पानी भी न पिया। विदा के लिए जल्दी की। रामसहाय को

बहुत बुरा लगा। बंगाल से इतना रुपया खर्च करके आये हैं; लड़का पाँच दिन भी बहू के साथ न रह पाया। दुबे लड़की के स्वास्थ्य की चिन्ता के कारण इतनी जल्दी आये हैं, यह सोच-कर उन्हें और भी क्रोध आया। आखिर महामारी का डर उनके बेटे के लिए भी है। बिटिया के लिए बड़ा डर लगा, दामाद के बारे में कुछ न सोचा। क्रोधी स्वभाव के थे ही। बोले—ले जाओ अपनी बिटिया; हम लड़के का दूसरा ब्याह कर लेंगे। दुबेजी कुछ ऊँचा सुनते थे। समधी की पूरी बात समझे बिना बिटिया को विदा कराके चल दिये। पर बिटिया ने सारी बात सुनी और समझ ली थी।

जब सुर्जकुमार सोकर उठे तो उन्हें पता चला कि मनो-हरादेवी बहल में बैठी हुई, लोन नदी पार करके, बीघापुर स्टेशन पहुँचने वाली हैं।

मनोहरादेवी से उनकी माँ पार्वती देवी ने सब हाल सुना तो बहुत परेशान हुईं। मेरी दो दाँत की लड़की, उसके सामने दूसरे ब्याह की बात! उन्होंने पंडित रामसहाय के नाम चिट्ठी भिजवाई, कसूर के लिए माफी माँगी, दामाद को गवहीं लेने के लिए निमंत्रित किया। गौना हो जाने के बाद गवहीं की रस्म होती है। वर ससुराल जाकर कुछ हफ्ते या महीने वहाँ रहता है। फिर बहू को विदा कराके अपने घर आता है।

रामसहाय को प्रस्ताव पसन्द आया। लड़के से ससुराल जाने को कहा। समधी से बदला लेने के लिए ताकीद कर दी, यहाँ से तिगुना खाना। सुर्जकुमार ससुराल जाने को तैयार बैठे थे। पिता की आज्ञा तुरत स्वीकार कर ली। कहा कि घी और बादाम की मात्रा तिगुनी कर देंगे। अफसोस इस बात पर किया कि वहाँ बेदाना मिलता नहीं, वर्ना शरबत में ही रोज़ तीन रुपये खर्च करा देते। रामसहाय ने सुझाया, रूह की मालिश कराना रोज़, होश दुरुस्त हो जायेंगे। बाप-बेटे घुल-घुलकर बतियाने लगे; रामदयाल दुबे को कैसे छकायें, इस बारे में दोनों ने षड्यंत्रकारियों की तरह योजना बनाई। इस समय उन्हें देखकर कोई यह न कहता कि इन्हीं राम-सहाय ने कभी बेटे की मरम्मत भी की होगी।

गवहीं की तैयारी हुई। बक्से में धराऊ कपड़ों के अलावा एक जोड़ी जूते भी रख लिये। बैसवाड़े की धूल में जूते बेआब हो जाते; ससुराल में पहनने लायक न रहते। डलमऊ कलकत्ता न था पर गढ़ाकोला को देखते तो कस्बा था। सुर्ज-कुमार को अपनी नागरिक सभ्यता से ससुराल वालों को प्रभावित करना था; वह बैसवाड़े के कोई ऐसे-वैसे देहाती हूस नहीं हैं, यह बताना था। बंगाली ढंग से कीमती शान्तिपुरी धोती बाँधी, उस पर कमीज़ पहनी, छाता लिया और स्टेशन के लिए रवाना हुए। गाड़ी शाम के चार बजे आती थी पर स्टेशन दूर था; इसलिए ढाई बजे घर से निकले। बैलगाड़ी का इन्तज़ाम न था, पैदल ही स्टेशन चले। चन्द्रिका लोध को खिदमतगार बनाकर पहले ही सामान के साथ स्टेशन भेज दिया था।

जेठ-बैसाख के दिन। लू ज़ोरों से चल रही थी। सुर्ज-कुमार ने सर-कान ढकने का कोई प्रबन्ध न किया। लू के थपेड़ों से मुँह लाल हो गया। रास्ते में कंकड़ों से ठोकर लगने पर जूता फट गया। कोंछदार धोती उड़ती हुई बेर के काँटों में उलझ गई। हवा के तेज़ झोंके से छाता उलट गया। हाथ, पैर, मुँह, बाल सब धूल से भर गये। मगड़ायर पार करके बीघापुर स्टेशन के सामने वाले ऊसर में पहुँचे थे कि टिकौली रावतपुर से आती हुई गाड़ी का अर्रहटा सुनाई दिया। घर वापस जाने का सवाल न था। जूते उतारकर हाथ में लिए, छाता बगल में दबाया और स्टेशन की तरफ दौड़ना शुरू किया। बीघापुर में इंजन पानी लेता है, गाड़ी से अलग होता है, फिर जुड़ता है। सुर्जकुमार को समय मिला। ऊसर की तरफ प्लेटफार्म नहीं था। चन्द्रिका इस पार आकर मुँह बाये सुर्जकुमार की राह देख रहा था। धूल-पसीने में लथपथ जब यह गाड़ी तक पहुँच गये, तब उसे तसल्ली हुई। टिकट कटा लिये थे। सुर्जकुमार पहली बार पिता के बिना ससुराल के लिए रवाना हुए।

सूरज डूबते डलमऊ स्टेशन आया। चन्द्रिका से सामान उठवाकर चले तो गेट पर टिकट-कलेक्टर के पास एक नौजवान ने पूछा, कहाँ जाइएगा? शेरंदाजपुर का नाम सुनकर उसने कहा, आइये, हमारा इक्का है। किनके यहाँ जाना है, यह भी उसने मालूम कर लिया। सुर्जकुमार ने देखा, चिकनाई जुल्फों पर दुपलिया टोपी लगाये, मूँछ ऐंठे, चिकन के कुर्ते पर वास्कट पहने, हाथ में बेंत लिए गाँव का छैल जैसा लगता है। उन्होंने यह भी नोट किया कि वह भी काली मखमली किनारे की कलकतिया धोती पहने है। पैरों में मेरठी जूते हैं। इस व्यक्ति का नाम पथवारी दिन भट्ट उर्फ कुल्ली भाट था।

सुर्जकुमार किसके इक्के पर बैठ कर आये हैं, यह समाचार

उनके ससुराल पहुँचने के साथ-साथ सास को मिल गया। गलीचा बिछे पलँग पर बैठे ही थे कि उन्होंने पूछा, क्यों भइया, तुम कुल्ली के एक्के पर आये हो? उन्हीं के इक्के पर आये हैं, बात पक्की होने पर सास ने लम्बी साँस ली। सुर्जकुमार के लम्बे लहराते बाल और कोंछदार धोती देखकर बैसवाड़े के लोग यही कहते—जनाना है। वही भाव सास का था। शरबत-पानी के बाद उन्होंने रामसहाय की तीखी आलोचना की; अगर उन्होंने सुर्जकुमार का दूसरा ब्याह कर दिया तो इससे पिता-पुत्र की जो दुर्गति होगी—इस जन्म में और उसके बाद—उसका सजीव चित्र खींच दिया। साथ ही उन्होंने अपनी पुत्री के रूप-गुण की प्रशंसा भी काफी की। दामाद को पटाते हुए उन्होंने कहा—मैंने तुम्हारा ही मुँह देखकर ब्याह किया है, तुम्हारे पिता की तोंद देखकर नहीं।

सुर्जकुमार आज्ञाकारी दामाद की तरह सब-कुछ सुनते रहे। पिता का पक्ष लेकर उन्होंने लड़ाई करना उचित न समझा। पिता ने दूसरे ब्याह की धमकी देकर ठीक किया है, ऐसा दृढ विश्वास भी उन्हें नहीं था। रात में पत्नी के आने पर दिये के प्रकाश में पहली बार उन्होंने मनोहरादेवी की छवि देखी। पर माँ की तरह बेटी ने भी सवाल किया, "तुम कुल्ली के एक्के पर आये हो?"

सवेरा होते ही कुल्ली आकर सुर्जकुमार को पूछ गये। अभी वह सो रहे थे। सास ने बताया और दामाद को चेतावनी दी, उनके साथ रहने पर तुम्हारी बदनामी हो सकती है। इससे मिलो, उससे न मिलो—यह सब सुर्जकुमार को अच्छा न लगता था। गढ़ाकोला में बाप कहते थे, पतुरिया के लड़कों से न मिला करो; यहाँ सास कहती हैं, कुल्ली से न मिलो। पर ऐसे लोगों से मिलने में ही उन्हें विशेष आनन्द आता था। कुल्ली आये; डलमऊ के इतिहास के बारे में बातें कीं। शाम को गंगा का घाट, पुराना किला वगैरह दिखाने को कहा। सास ने मना किया पर इन्होंने जाने की ज़िद की। सास ने चन्द्रिका को साथ भेज दिया।

कुल्ली ने इशारा किया कि चन्द्रिका को विदा कर देना चाहिए। सुर्जकुमार ने उसे रूह खरीदने भेज दिया। किले में एक स्थान उन्हें विशेष पसन्द आया। काफी ऊँचाई पर बारहदरी बनी थी और नीचे गंगा बहती थी। नीचे उतरने के लिए सीढ़ियाँ बनाई गई थीं जिनमें कुछ अब भी बची हुई थीं। कुल्ली ने सुर्जकुमार से गाने को कहा। गले की तारीफ की। "पान भी क्या खूबसूरत बनाता है तुम्हें! तुम्हारे होंठ भी गज़ब के हैं। पान की बारीक लकीर, क्या कहूँ, शमशीर बन जाती है।" कुल्ली के प्रशंसा-वाक्य सुनकर सुर्जकुमार प्रसन्नमन घर लौटे। रास्ते में चन्द्रिका को समझा दिया, तुम्हारी नानी पूछें तो कहना, हम साथ थे।

सास को यह पता लगाते देर न हुई कि सुर्जकुमार किला देखने गए तब चन्द्रिका साथ न था। उन्होंने डण्डा उठाकर चन्द्रिका से कहा, "देख, दहिजार लोध! भले आदमी की तरह ठीक-ठीक बता, नहीं तो वह डण्डा दिया कि मुँह टेढ़ा हो गया।"

चन्द्रिका अपने मालिक सुर्जकुमार को पकड़कर रोने लगा। बोला—"बाबा, मैं न रहूँगा।" पूछने पर मालूम हुआ कि चन्द्रिका को रूह लेने के बहाने अलग करने का राज़ सास को मालूम हो चुका है। सुर्जकुमार ने तै किया, दबना नहीं है। चन्द्रिका से रूह की मालिश करने को कहा। चन्द्रिका जब सुर्जकुमार के सीने पर रूह मल रहा था, तभी ससुर रामदयाल दुबे खुशबू के सहारे आ पहुँचे और बोले, "अरघानें उठ रही हैं बच्चा! इतना अतरफुलेल न लगाया करो।" सास ने आकर पूछा, रूह की मालिश से क्या होता है? दामाद ने जवाब दिया, सीना तगड़ा होता है। इस पर उन्होंने बड़ा टेढ़ा सवाल किया, "तुम्हारे पिताजी तनखाह कितनी पाते हैं?" तनखाह इतनी कम थी कि सुर्जकुमार सही बात कहने में शरमाये। कूटनीति का सहारा लेकर बोले, "पिताजी की आमदनी की कितनी सूरतें हैं क्या कहूँ। उनकी आमदनी कब कितनी हो जाएगी, कहाँ से, कैसे, किससे, यह वही नहीं बता सकते।" इस पर सास रोने लगीं। रामसहाय रूह से बेटे की मालिश करायें पर उनकी बेटी के लिए चढ़ावा ऐसा मामूली लाए! ऐसे घर में बेटी ब्याहने पर खुद ही पछताने लगीं—"अरे राम रे! मुझे क्या हो गया, जो मैंने शादी की!"

रात को पत्नी ने विरोध किया। इत्रफुलेल लगाना किसान-परिवारों में अच्छा न समझा जाता था। मनोहरादेवी ने कहा, इत्र की इतनी तेज़ खुशबू है कि शायद आज आँख न लगेगी। सुर्जकुमार ने चुटकुला सुनाया। एक मछुआइन को नदी से लौटते देर हो गई; रास्ते में राजा की फुलवारी पड़ती थी, उसी में सो रही, पर फूलों की महक से नींद न आई। मछली वाली टोकरी सिरहाने रखी, तब नींद आई। पत्नी ने बिगड़कर कहा, तो मैं मछुआइन हूँ? मैं

मछली-कलिया खाती हूँ ? सुर्जकुमार ने जवाब दिया, "अपने बाल सूँघो। तेल की ऐसी चीकट और बदबू है कि कभी-कभी मालूम देता है कि तुम्हारे मुँह पर क़ै कर दूँ।" मनोहरा देवी ने और तेज़ होकर कहा, "तो क्या मैं रण्डी हूँ जो हर वक्त बनाव-सिंगार के पीछे पड़ी रहूँ ?" और वह उठकर चल दीं।

सुर्जकुमार ने गाँव में पतुरिया का शृंगार देखा था। यद्यपि वह उम्र में बहुत बड़ी थी और उसके लड़के भी सुर्जकुमार से बड़े थे, फिर भी थी तो वह पतुरिया। वह गाँव की स्त्रियों से अलग निखर-सँवर कर रहती थी। उसके अलावा महिषादल में गायिकाओं, सुन्दर स्त्रियों की कमी न थी; उनकी प्रसाधन-कला को गँवई-गाँव की स्त्रियाँ कहाँ पातीं ? मनोहरादेवी ने अपने पति की रुचि भाँपकर ही मानो कहा था, तो क्या मैं रण्डी हूँ जो बनाव-सिंगार के पीछे पड़ी रहूँ ?

सुर्जकुमार को लग रहा था, पत्नी उनके अधिकार में पूरी तरह नहीं आ रही। एक दिन उनका गाना सुना, लोगों को उनके गाने की प्रशंसा करते सुना। जिसे देखो वही मनोहरादेवी की चर्चा कर रहा था, मानो सुर्जकुमार उस घर में हो हों नहीं। मनोहरादेवी ने भजन गाया—

श्री रामचन्द्र कृपालु भजुमन हरण भवभय दारुणम्। तुलसीदास की शब्द-योजना इतनी सुन्दर है, सुर्जकुमार के ध्यान में यह बात पहले न आई थी। जब मनोहरादेवी ने गाया—

कन्दर्प अगणित अमित छवि नवनीलनीरज सुन्दरम्! तब सुर्जकुमार को लगा, गले में मृदंग बज रहा है।

मनोहरादेवी के कंठ से तुलसीदास का यह छन्द सुनकर सुर्जकुमार के न जाने कौनसे सोते संस्कार जाग उठे। साहित्य इतना सुन्दर है, संगीत इतना आकर्षक है, उनकी आँखों ने जैसे नया संसार देखा, कानों ने ऐसा संगीत सुना जो मानो इस पृथ्वी पर दूर किसी लोक से आता हो। अपनी इस विलक्षण अनुभूति पर वह स्वयं चकित रह गए। अपने सौन्दर्य पर जो अभिमान था, वह चूर-चूर हो गया। ऐसा ही कुछ गायें, ऐसा कुछ रचकर दिखायें, तब जीवन सार्थक हो। पर यहाँ विधिवत् न साहित्य की शिक्षा मिली, न संगीत की। अब तक एंट्रेन्स पास कर लेना चाहिए था पर आठवें से दसवें तक पहुँचने में छह साल लग गए।

सुर्जकुमार को पढ़ाई का ध्यान आया। विदा कराके गाँव आए, गाँव से महिषादल। स्कूल जाने का क्रम फिर शुरू हुआ। अब तक यदि वह एन्ट्रेन्स परीक्षा पास न कर पाए थे, तो इसमें ज्यादा दोष उनका था भी नहीं। कम उम्र में बिना पूरी तैयारी के उन्हें जो आठवें दर्जे में भर्ती कराया गया था, उससे नींव बराबर कमज़ोर रही। जो विषय अच्छा लगा और जिसके अध्यापक के पढ़ाने का ढंग अच्छा लगा, उसे उन्होंने जल्दी सीख लिया, बाकी में उनका ज्ञान छोटी क्लास के लड़कों जैसा रहा। अब एक कठिनाई और हो गई थी; किताब लेकर बैठते तो पृष्ठों के अक्षर गायब हो जाते और उनकी जगह मनोहरादेवी की छवि तैरने लगती। पद्माकर के कवित्तों का अर्थ अब और भी अच्छी तरह समझ में आने लगा। एन्ट्रेन्स परीक्षा के दिन नज़दीक आए। परीक्षा में पास न हो पाएँगे, सुर्जकुमार को निश्चय हो गया था। गणित के दिन वह कापी में पद्माकर के शृंगार रस वाले कवित्त लिख-कर घर चले आए।

जैसे-जैसे परीक्षाफल निकलने के दिन पास आने लगे, वैसे-वैसे सुर्जकुमार के मन में शृंगार के बदले वैराग्य के भाव उदय होने लगे। रामायण का पाठ वह और भी मनोयोग से करने लगे। पर इससे कोई लाभ न हुआ। सफल विद्यार्थियों में कहीं उनका नाम न था। रामसहाय तेवारी ने समझ लिया, लड़का आवारा हो गया; सज़ा दिए बिना काम न चलेगा। बुलाकर कहा, जो कुछ पढ़ना था, पढ़ चुके; हमने अपना फ़र्ज़ पूरा किया; अब अपनी मेहरिया सँभालो और कमाओ-खाओ।

उन्होंने बहू का सारा गहना रखवा लिया, सुर्जकुमार के घराऊ कपड़े रखवा लिए। भाग्य के सहारे कमाने-खाने के लिए घर से बाहर कर दिया। सुर्जकुमार के मन को एक चोट लगी परीक्षा में फेल होने की। खैर पास होने की तो वैसे भी बहुत आशा न थी। दूसरी चोट अब यह घर से निकाले जाने की, वह भी अकेले नहीं, पत्नी के साथ। कहाँ जाएँ, किससे नौकरी माँगें ? महिषादल छोड़ अभी दूसरी जगह विशेष परिचय न था। कलकत्ते में इधर-उधर भटकने पर कुछ-न-कुछ काम मिल जाता पर पत्नी को लिए-लिए कहाँ घूमें ? एक ही रास्ता था। किसी तरह ससुराल पहुँचकर वहीं शरण लें। सुर्जकुमार दुखी मन से पत्नी को लिये हुए डलमऊ पहुँचे। सास ने सारा हाल सुना, सहानुभूति प्रकट की। रामसहाय के व्यवहार से वह पहले ही नाराज़ थीं; वह जंगली हूस हैं, इस घटना से उनकी यह राय और भी पक्की हो गई।

सुर्जकुमार पिता की आलोचना सुनकर चुप रहे। जिस घर में रूह की मालिश कराके उन्होंने अपनी नागरिक सभ्यता का परिचय दिया था, उसी में दीन-मलीन वेश में निठल्ले दामाद की तरह उन्हें आश्रय लेना पड़ा। अब उनसे कहने की ज़रूरत न थी, कुल्ली के यहाँ मत जाना। कुल्ली का साथ करके वह सास को नाराज़ न करना चाहते थे। पार्वतीदेवी काफी सहानुभूति से पेश आईं। वेटी के लिए नए सिरे से गहने और दामाद के लिए कपड़े बनवाए और बातें दर किनार, कस्बे में खुद अपनी इज़्ज़त का सवाल था।

सुर्जकुमार भविष्य की चिन्ता करना छोड़कर पत्नी के साथ सुख से दिन बिताने लगे। अब उन्हें उनके बालों और वेशभूषा से कोई शिकायत न रही। उनकी पत्नी कितनी कर्मठ है और वे स्वयं कितने निकम्मे हैं, इसका वोध उन्हें होने लगा। छह महीने बीत गए। बाप-वेटा दोनों ज़िद्दी। आखिर रामसहाय तेवारी ही झुके। खुद डलमऊ आए और वेटे-बहू को गाँव लिवा लाए।

मनोहरादेवी साध्वी महिला थीं। उनकी माँ लम्वे कद, गौरवर्ण की सतेज व्यक्तित्व वाली देवी थीं। माँ के समान मनोहरादेवी सुन्दर थीं। पर वह अपना समय शृंगार-प्रसाधन में न खर्च करती थीं। उस समय तक गाँव में क्रीम-पाउडर की पहुँच न हुई थी। मनोहरादेवी रोटी बनातीं, वर्तन माँजतीं, टोला-पड़ोस के लोगों के लिए चिट्ठी लिखतीं। इन चिट्ठी लिखाने वालों में एक साँवला चमार युवक था—चतुरी। वह दहलीज़ में वैठकर रामायण पढ़तीं; बाहर चबूतरे पर सुर्जकुमार के काका रामलाल वैठकर सुना करते। कभी-कभी वह भजन गातीं और चतुरी भी मगन मन सुनता रहता।

सुर्जकुमार को एक दिक्कत थी। मनोहरादेवी शाकाहारी थीं और सुर्जकुमार को गोश्त खाने का शौक था। वैसे वह गुरुमुख हो चुके थे पर लाड़-प्यार में पले वेटे ने मन की इच्छाओं का दमन करना न सीखा था। मनोहरादेवी ने कहा —"विश्राम सागर में लिखा है कि मांस खाने से बड़ा पाप होता है; तुम मांस खाना छोड़ दो।" उनके कहने से सुर्जकुमार ने मांस खाना छोड़ दिया। मांस छोड़ने के कारण हो अथवा पत्नी के साथ रहने से हो, सुर्जकुमार बहुत दुवले हो गए। एक दिन उघारे बदन जब नहाने जा रहे थे, तब गाँव के एक बूढ़े पंडितजी ने इन्हें देखकर ताज्जुब से कहा —"तुम क्या हो गए?" सुर्जकुमार ने जवाव दिया, "मांस छोड़ दिया, इसलिए दुवला हो गया हूँ।" उन्होंने पूछा, "तो मांस क्यों छोड़ा?" इन्होंने वताया, "विश्राम सागर में लिखा है, बड़ा पाप होता है, मरने पर मांसाहारी को यम के दूत बड़ा दण्ड देते हैं।" पंडितजी ने पूछा, "तुमने अपनी इच्छा से छोड़ा या किसी के कहने पर?" सुर्जकुमार ने बताया कि पत्नी के उपदेश से ऐसा किया है। पंडितजी ने कहा, "तो तुम फिर खाओ। कनवजियों को पाप नहीं होता। उनको वरदान है।" इन्होंने जिज्ञासा की, "कहीं लिखा भी है?" पण्डितजी ने विश्वासपूर्वक कहा, "हाँ, है क्यों नहीं? वंशावली में लिखा है।"

सुर्जकुमार चिकवे के यहाँ गए और आधा सेर मांस ले आए। रूमाल में खून के धब्बे देखकर मनोहरादेवी ने पूछा, "यह क्या है?" उत्तर मिला, "मांस।" उन्होंने पूछा, "तो क्या फिर खाओगे?" सुर्जकुमार ने कहा, "हाँ, हमें वरदान है। वंशावली में लिखा है।" मनोहरादेवी ने कहा, "अपने मांस वाले वरतन अलग कर लो। जिस दिन मांस खाओ, उस दिन न मुझे छुओ और न घर के और वरतन। तीन दिन तक कच्चे घड़े नहीं छूने पाओगे।" सुर्जकुमार ने कहा, "इस समय तो रोज़ खाने का विचार है क्योंकि पिछली कसर पूरी करनी है।" मनोहरादेवी ने कहा, "तो मुझे मेरे मायके छोड़ आओ।" सुर्जकुमार ने जवाब दिया, "लिख दो कोई ले जाए, नहीं तो नाई भेज दो, किसी को वुला लाए। मैं जहाँ मांस पकाता हूँ वहाँ दो रोटियाँ भी ठोक लूँगा।" मनोहरादेवी मायके चली गईं।

सन् '१४ की लड़ाई शुरू हो गई थी। देश में महँगाई बढ़ रही थी। रामसहाय वुढ़ा रहे थे पर सुर्जकुमार को अभी घर का भार उठाने की कोई फिक्र न थी। इसी साल कुँआर के महीने में मनोहरादेवी ने मायके में ही पुत्र को जन्म दिया। रामसहाय अब बाबा हुए। नाती के जन्म पर उन्होंने धूमधाम से उत्सव किया। सुर्जकुमार की ज़िम्मेदारी बढ़ गई। लेकिन जब तक रामसहाय जिए, इन्होंने घर-गृहस्थी की कोई चिन्ता न की। अब स्कूल जाना भी बन्द था। कसरत, खेलकूद, सैर-सपाटा, स्वेच्छानुसार अध्ययन—यही जीवन-क्रम था।

रामसहाय का शरीर शिथिल हो रहा था, पेट बढ़ गया था। डॉक्टरों ने कहा, हार्निया है। महिषादल के अस्पताल में उनका आपरेशन हुआ। आपरेशन सफल हुआ पर रामसहाय पूरी तरह स्वस्थ फिर कभी नहीं हुए। वह गाँव चले

आये। सलेथू, ज़िला उन्नाव की एक स्त्री, जिसका परिवार महिषादल में था, गौरी की माँ के नाम से प्रसिद्ध, गढ़ाकोला में उनकी देखभाल करती रही। सन् '१७ में मनोहरादेवी ने दूसरी सन्तान कन्या सरोज को जन्म दिया। उसी वर्ष रामसहाय तेवारी का देहान्त हुआ।

सुर्जकुमार को अब अपने उत्तरदायित्व का बोध हुआ। उम्र उन्नीस साल, दो बच्चों के बाप; पिता अब नहीं हैं; उन्हें अब दूसरों के सहारे जीने का अधिकार नहीं है—यह सब उनकी समझ में अपने-आप आ गया। इसके सिवा पिता के न रहने पर उन्हें ज्ञात हुआ कि बुढ़ऊ उन्हें कितना प्यार करते थे। माँ के न रहने पर माँ-बाप वह दोनों थे। जो कुछ कमाया था, वह सब सुर्जकुमार के लिए। गाँव से इतनी दूर परदेस में और किसके लिए मर-खप रहे थे? क्रोध आने पर कई बार उन्होंने मारा भी था, पर यह भी सुर्जकुमार के भले के लिए। उन्होंने लाड़-प्यार भी कम न किया था। देशी रियासत में सिपाहियों के मामूली जमादार की हैसियत ही क्या? पर उन्होंने सुर्जकुमार को राजकुमारों की तरह रखा। कौन जनेऊ, ब्याह, गौने के लिए बंगाल से बैसवाड़े के दरिद्र गाँव में आकर इतना पैसा खर्च करता है? गाँव में किस नौजवान को शान्तिपुरी धोती और पम्पशू पहनने का सौभाग्य मिलता है? बादाम और बेदाना कितनों को मयस्सर होता है? उस पर इत्र-फुलेल, नाटक-तमाशे, सैर-सपाटा! यह सब रामसहाय तेवारी की बदौलत। अब वह साया उठ गया था।

बाप की सेवाओं का विचार करके राजा सतीप्रसाद गर्ग ने सुर्जकुमार को अपने यहाँ नौकर रख लिया। सिपाही के बेटे को उन्होंने सिपाहियों में भर्ती नहीं किया। सुर्जकुमार बाप से ज्यादा पढ़े-लिखे थे। उन्हें चिट्ठी-पत्री, तहसील-वसूली, कचहरी-अदालत से सम्बन्धित काम मिल गया। तनखाह मामूली थी, पर भाई बदलू प्रसाद भी यहीं नौकर थे, खर्च चल जाता था। सुर्जकुमार अब राजा के और निकट सम्पर्क में आये। एक नाटक में सुर्जकुमार को संस्कृत श्लोक पढ़ने का छोटा-सा पार्ट दिया गया। राजा को इनका श्लोक-पाठ पसन्द आया। उन्होंने अपने यहाँ के एक राजकर्मचारी को आज्ञा दी कि वह सुर्जकुमार को गाना सिखाया करे। सुर्जकुमार ने भी अब राजा को निकट से देखा। कद में सुर्जकुमार से कई इंच छोटे हैं। रंग हल्का साँवला है, होंठ मोटे हैं, नीचे का होंठ आगे को कुछ निकला हुआ है। सुर्जकुमार से ज़्यादा सुन्दर नहीं हैं पर चेहरे से तेज झलकता है, और हाथ-पैर भी फौलाद के हैं। राजा ब्राह्मण हैं; नौकर-चाकर, रिआया-आसामी ज़मीन में लेटकर, उनके चरणों में माथा टेककर, साष्टांग दण्डवत् करते हैं—उन्होंने देखा। हुज़ूर कहे बिना उनसे बात करना गुस्ताखी में शामिल है। नौकरी और आत्म-सम्मान में परस्पर क्या सम्बन्ध है, सुर्जकुमार को मालूम होने लगा।

एक दिन सुना लड़ाई बंद हो गई, अंग्रेज जीत गये। स्वामिभक्त राजाओं ने उत्सव मनाये। पर लड़ाई के कारण किसानों की हालत बहुत खराब हो गई थी। अशिक्षा और निर्धनता तो थी ही, बाढ़ और अकाल में उनकी सहायता का कोई प्रबन्ध न था। युद्ध और महामारी में चोली-दामन का सम्बन्ध है। यूरोप में लड़ाई खत्म होने पर भारत में महामारी फैली।

सुर्जकुमार को तार मिला—तुम्हारी स्त्री सख्त बीमार है, फौरन आओ। सुर्जकुमार ने तुरन्त डलमऊ के लिए कूच किया। राम-राम करते जब ससुराल पहुँचे, तब मालूम हुआ, मनोहरादेवी पहले ही चिता में जल चुकी हैं। फेफड़े कफ़ से जकड़ गये थे। डॉक्टर ने पानी की जगह अखनी पिलाने को कहा था। पर अखनी पीना तो दूर, मनोहरादेवी ने अंग्रेज़ी दवा पीने से भी इन्कार कर दिया। कहा—दस बार नहीं मरना है; कौन धरम बिगाड़े? बड़े भाई बदलू उन्हें देखने आये हैं। पर खुद ही बीमार हो गए। सुर्जकुमार के पहुँचने से पहले ही वह गढ़ाकोला चले गये थे।

डलमऊ में और उसके पास इतने लोग मरे कि उनकी लाशें फूँकना असम्भव हो गया। गंगा के घाटों पर लाशों के ठट लगे थे। लाशें फूलकर धीरे-धीरे नदी के दोनों किनारों की तरफ़ बहती थीं; बीच में थोड़ी-सी धारा दिखाई देती थी। लोग कहते थे, लाशों के सड़ने से गंगा का निर्मल जल भी अशुद्ध हो गया है, डॉक्टरों ने जाँच करके देखा है, सेर भर पानी में आध पाव सड़ा माँस निकलता है।

चार साल के रामकृष्ण, साल-भर की सरोज—दोनों सन्तानों को वहीं उनकी नानी के पास छोड़कर सुर्जकुमार अपने गाँव चले। अभी गाँव पहुँचे न थे कि देखा, लोग बड़े भाई बदलू की लाश लिये चले आ रहे हैं। सुर्जकुमार को चक्कर आ गया। राह में वहीं सिर पकड़कर बैठ गये। किसी तरह घर पहुँचे तो देखा, भौजाई बीमार हैं। उन्होंने पूछा, "तुम्हारे

दादा को कितनी दूर ले गये होंगे ?" सुर्जकुमार से कुछ जवाब देते न बन पड़ा। काका रामलाल भी बीमार थे। भतीजे को देखकर बोले, "तू यहाँ क्यों आया ?" सुर्जकुमार ने कहा, "आप अच्छे हो जाएँ तो सबको लेकर बंगाल चलूं।"

बदलू प्रसाद के पाँच बच्चे थे, चार लड़के और एक दूध-पीती बच्ची। बड़ा लड़का महिषादल में सुर्जकुमार के साथ रहता था, बाकी तीन गाँव में थे। बड़े भाई के देहान्त के तीसरे दिन भाभी भी गुज़र गईं। दूध-पीती बच्ची अकेली रह गई। सुर्जकुमार रात को उसे अपने पास लिटाकर सोये। घर में बिल्ली उछल-कूद मचाये थी। सुर्जकुमार को नींद न आई। सवेरे उठकर देखा तो खाट पर लेटी हुई बच्ची का शरीर ठंडा था।

सुर्जकुमार ने बच्ची का शव उठाया। उसे नदी किनारे ले गये। गड्ढा खोदकर उसे गाड़ा, फिर घर लौटे। इसके बाद काका रामलाल का देहान्त हुआ। बदलूप्रसाद के लड़के बीमार हुए पर सौभाग्य से अच्छे हो गए। मृत्यु-लीला समाप्त हुई। परिवार में रह गए सुर्जकुमार और उनके चार भतीजे; पुत्र और कन्या ननिहाल में थी।

ज़िन्दगी का यह दौर एक भयानक सपने जैसा था। सारा कुनबा ही उजड़ गया। अब सर पर किसी का साया नहीं। रामसहाय-रामलाल की पीढ़ी तो खत्म हो ही गई, बदलू-सुर्जकुमार की पीढ़ी में भी अकेले सुर्जकुमार रह गये। एक आदमी की कमाई से इतने बच्चों का खर्च कैसे चलेगा ? इतनी मौतें एक साथ देखकर कोई अपने औसान कैसे कायम रखे ? कोई ऐसी पाठशाला नहीं जहाँ ऐसी विकट परिस्थिति का सामना करने की शिक्षा आदमी को पहले से दी जा सके। फिर सुर्जकुमार के दिन लाड़-प्यार में बीते थे। जिन्दगी के बीस साल निश्चित बिताने के बाद सर पर यह आफ़त का पहाड़ ही टूट पड़ा।

सबसे बड़ा धक्का लगा, मनोहरादेवी के गुज़र जाने का। उनके विवाहित जीवन की शुरुआत अब होनी चाहिए थी पर शुरू होने के बदले उसका अन्त हो गया। मनोहरादेवी के जीवित रहते उन्होंने उनकी कद्र न की। गँवही के दिनों उनके बालों को लेकर ताने कसे। गोश्त खाने के पीछे गढ़ाकोला में अपने साथ रहना दूभर कर दिया। अपने निठल्लेपन के कारण एंट्रेन्स परीक्षा पास न कर पाए; इससे अपने साथ उन्हें भी अपमानित कराके घर से निकले। पर वह कितनी उदार थीं। कभी पति या ससुर के रूखे व्यवहार की शिकायत न की। कितनी कम उम्र में संसार छोड़ गईं। अभी अठारह की भी तो न थीं। कैसा सुन्दर कंठ, कैसा मृदुल स्वभाव, कैसा सात्त्विक सौन्दर्य, सुर्जकुमार ने देखा, उनके हृदय में पत्नी के लिए अगाध प्यार है। यह प्यार अब तक क्यों न दिखाई दिया था ? किस मोह ने उनकी आँखों पर पर्दा डाल दिया था ? क्या मृत्यु ही यह पर्दा उठा सकती थी कि वह मनोहरादेवी की वास्तविक छवि देखें ?

सुर्जकुमार गढ़ाकोला से डलमऊ गए। गंगा के किनारे रात-रात-भर वह श्मशान में घूमा करते जहाँ मनोहरादेवी की चिता जली थी। दिन में वह अवधूत टीले पर बैठ जाते और गंगा में बहती हुई लाशें देखा करते। पत्नी और भाई के निधन के बाद अब मृत्यु का ऐसा कोई दृश्य न था जिससे सुर्जकुमार को भय होता। जीवन में जो सबसे बीभत्स और भयानक है, उसे भर आँखों देखना वह सीख गए थे।

एक दिन वह अवधूत टीले पर बैठे थे; तभी कुल्ली ने आकर कहा, "मैं जानता हूँ, आप मनोहरा को बहुत चाहते थे। ईश्वर चाह की ही जगह मार देता है, होश कराने के लिए।"

सुर्जकुमार को ब्रह्मज्ञान मिला। वह अभी तक बेहोश थे। न अपने को समझते थे, न मनोहरा को, न संसार को। दुख के अंकुश द्वारा अब ब्रह्म ने उन्हें अपना और संसार का ज्ञान कराया।

श्री रामचन्द्र कृपालु भजुमन हरण भवभय दारुणम्। कितना सुन्दर भजन। दारुण भवभय को हरने वाला वही एक है राम। राम को छोड़ कौन ऐसे समय मन को शान्ति दे सकता है !

सुर्जकुमार महिषादल लौट आये। फिर वही तहसील-वसूली, कचहरी अदालत। वह और भी नियमित रूप से रामायण का पाठ करने लगे। तभी एक दिन वहाँ रामकृष्ण परमहंस के शिष्य स्वामी प्रेमानन्द आए। स्वामी रामकृष्ण ने बंगाल के धार्मिक जीवन में अपनी साधना से एक ज़बर्दस्त क्रान्ति कर दी थी; उनके शिष्य स्वामी विवेकानन्द के वेदान्त-ज्ञान से ब्रिटेन और अमरीका चमत्कृत हो उठे थे। उन्हीं स्वामी विवेकानन्द के गुरु भाई, साक्षात् रामकृष्ण परमहंस के शिष्य स्वामी प्रेमानन्द महिषादल पधारे थे।

राज्य के चीफ़ मैनेजर कायस्थ थे। स्वामी प्रेमानन्द भी संन्यासी होने से पहले कायस्थ ही थे। मैनेजर को गर्व था कि

उनकी जाति में इतने बड़े संन्यासी पैदा हुए कि महिषादल की तमाम जनता उनके दर्शनों को उमड़ आई। एक खेत हमवार करके उसमें शामियाना लगाया गया। मंडप के द्वार पर तोरण, जल से भरे कलशों पर सेंदुर से बनाई हुई स्वस्तिका, परई में धान, आम के हरे पत्ते और कच्चे नारियल, फूल-पत्तियों से सजाया हुआ मंच, मंच पर कालीन से ढका हुआ तख्त, तख्त पर रामकृष्ण परमहंस का चित्र, चित्र के चारों ओर फूलमालाओं के ढेर। सुर्जकुमार ने स्वामी प्रेमानन्द के गले में बहुत-सी मालाएँ पहना दीं। स्वामीजी ने हँसकर कहा, "तुम लोगों ने तो मुझे काली बना दिया।" कीर्तन आरम्भ हुआ। खोल-करताल की ध्वनि के साथ भक्त-जन रामकृष्ण परमहंस के चित्र की परिक्रमा करने लगे।

उत्सव समाप्त होने पर मैनेजर स्वामीजी को अपने निवास-स्थान पर ले आए। वहाँ उन्होंने कबीर के पदों का बँगला अनुवाद स्वामीजी को सुनाया। राज्य के अन्य उच्च पदाधिकारी भी वहाँ उपस्थित थे। सुर्जकुमार अपनी सबसे बड़ी निधि तुलसीकृत रामायण भी साथ ले गए थे। स्वामीजी की आज्ञा पाकर वह पाठ करने लगे। अपने ही स्वर पर मुग्ध सुर्जकुमार को कभी स्वामीजी दिखाई देते, कभी महावीर, कभी मनोहरादेवी। स्थल वह था जहाँ सुतीक्ष्ण राम से मिले हैं—श्याम तामरस दाम शरीरम्। जटा मुकुट परिधन मुनि चीरम्। सुर्जकुमार को लगा, कंठ में स्वयं सरस्वती आकर बोल रही हैं और उनका स्वर मनोहरादेवी के कंठ-स्वर से मिलता है। वह भावावेश में पाठ करते जा रहे थे, समझ रहे थे कि सभी श्रोता भक्ति-रस के प्रवाह में निमज्जित हैं, स्वामी प्रेमानन्द ध्यानमग्न सहस्रार की छवि देख रहे हैं, तभी पूर्ण विरामवाला दोहा आने पर स्वामीजी ने पाठ बन्द कर देने को कहा।

घर के भीतर से घी में पकते हुए अन्न की सोंधी सुगन्ध आ रही थी। गृहस्वामी ने लोगों को भोजन के लिए आमंत्रित किया। ब्राह्मण-कायस्थ सब एक ही पंक्ति में बैठे। सबसे ऊँचे आसन पर स्वामी प्रेमानन्द को बिठाया गया। मैनेजर ने गर्व से कहा, "ब्राह्मणों ने हमें पतित समझा था; हमारी गिनती शूद्रों में करते थे। पर स्वामी विवेकानन्द और स्वामी प्रेमानन्द जैसे महापुरुषों ने हमें धन्य कर दिया। अब हम भी समाज में ब्राह्मणों की ही तरह सर उठाकर रहते हैं।" इस पर स्वामी प्रेमानन्द ने शान्त भाव से कहा, "संन्यासी होने पर देश-काल-पात्रता से हम दूर हो गये हैं। हमारा जीवन रामकृष्णमय है और सभी जनों के लिए है।" कुछ ब्राह्मणों ने कायस्थों के साथ एक ही पंक्ति में भोजन करने पर आपत्ति की। स्वामीजी ने उन्हें शान्त किया। भोजन समाप्त होने पर सब लोग मदनगोपाल के मन्दिर गये। स्वामीजी ने एक कथा सुनाई। नारदजी ने एक बार विष्णुजी से पूछा, "भगवन्! मृत्युलोक में आपका सबसे बड़ा भक्त कौन है?" विष्णु ने जवाब दिया, "एक किसान मेरा बड़ा भक्त है।" नारद भक्त की परीक्षा लेने चले। किसान हल जोतकर दोपहर को लौटा तो राम का नाम लिया। शाम को खेत से लौटा तब राम का नाम लिया। सवेरे खेत जोतने चला तब फिर राम का नाम लिया। नारद को बड़ा आश्चर्य हुआ कि ऋषि-मुनि आठों याम इनका ध्यान करते हैं, यह किसान दिन-रात में केवल तीन बार राम का नाम लेता है और यह उन्हें सबसे प्रिय हो गया! विष्णु के पास जाकर उन्होंने शंका प्रकट की। विष्णु ने कहा, "इसका उत्तर मिल जाएगा। इस समय एक आवश्यक काम कर डालिए। यह तेल से भरा कटोरा हथेली पर रख लीजिये और पृथ्वी की परिक्रमा करके लौट आइये, पर देखिये, एक भी बूँद तेल छलककर गिरने न पाये।" नारद तेल का कटोरा लेकर चले; बड़ी सावधानी से कटोरा सँभाले हुए पृथ्वी की परिक्रमा करके वापस आये। मन में प्रसन्न थे कि तेल की एक बूँद भी नहीं गिरी और कार्य पूरा हुआ। विष्णु ने पूछा, "परिक्रमा के समय कितनी बार मुझे स्मरण किया?" नारद ने कहा, "आप ही का तो काम था। ध्यान तेल के कटोरे पर था। आपका स्मरण क्या करता?" विष्णु ने कहा, "वह किसान भी मेरा ही काम करता है। पर आठ पहर में तीन बार मुझे याद करता है। इसीलिए वह मेरा सबसे प्रिय भक्त है।"

सुर्जकुमार को यह कहानी बहुत अच्छी लगी। जो गरीब है, खेत में हल चलाता है, जो धर्म का आडम्बर नहीं जानता वह भगवान् का सबसे प्रिय भक्त है। ये संन्यासी कितने महान् हैं! ये किसी को छोटा नहीं समझते; कुलीन-अकुलीन इनकी निगाह में सब बराबर हैं। राजा और नौकर इनके लिए समान हैं। ये आदमी देखते हैं, आदमी की पोशाक नहीं। स्वामी प्रेमानन्द के मुख पर कैसी शान्ति थी! सुर्जकुमार के दुखी मन को एक सहारा मिला। शान्ति संन्यास में है, बड़ा वह है जो संसार का मोह त्याग देता है जैसे स्वामी प्रेमानन्द

ने त्याग दिया है। स्वामी रामकृष्ण ने तो ईश्वर को प्रत्यक्ष देखा था; क्या सुर्जकुमार को भी ईश्वर के दर्शन हो सकते हैं ?

वैराग्य के भाव मन में और प्रबल हुए। स्वर्गीया मनोहरा देवी की छवि के साथ अब स्वामी प्रेमानन्द का भव्य मुख आँखों के सामने आता और लोप हो जाता। महिषादल में एक सज्जन थे श्यामापद मुखोपाध्याय। वह रामकृष्ण परमहंस के बड़े भक्त थे। सुर्जकुमार से उनकी मैत्री हो गई। उनके घर जाकर वह अक्सर वेदान्त-चर्चा करने लगे। स्वामी विवेकानन्द की पुस्तकें लेकर पढ़ीं। स्वामी रामकृष्ण परमहंस के बारे में दूसरों का लिखा हुआ बहुत-कुछ पढ़ा। ज्ञान का एक नया संसार सुर्जकुमार को दिखाई देने लगा। स्कूल, कालेज, यूनिवर्सिटी—इनकी शिक्षा से ज्ञान का क्या सम्बन्ध है ? ये सब डिगरियाँ बाँटते हैं पर सच्चा ज्ञान तो साधना से आता है। सुर्जकुमार एन्ट्रेन्स पास न कर पाये तो क्या हुआ ? साधना का द्वार तो उनके लिए भी खुला है।

तहसील-वसूली का काम उन्हें अब बिल्कुल अच्छा न लगता था। वह काम करते समय भी अपने दिवा-स्वप्नों में डूबे रहते। वह श्यामापद मुखोपाध्याय के बारे में सोचते। रामकृष्ण परमहंस की कृपा से सब-कुछ सम्भव है। श्यामापद बाबू की भाञ्जी को देखो। बहन का देहान्त हुआ तब इनकी पत्नी २५ वर्ष की थी। बच्चा एक भी न हुआ था। श्यामापद बाबू की आठ महीने की भाञ्जी को वह स्तन पिलाने लगी। रामकृष्ण की कृपा; कुछ ही दिनों में उनके स्तनों से दूध निकलने लगा। श्यामापद बाबू कहते थे, मेरी भाञ्जी के प्रति पत्नी के हृदय में वैसा ही भाव उदय हुआ जैसा अपनी पुत्री के लिए होता है, हृदय में स्नेह उमड़ने के साथ स्तनों से दूध बह चला !

रामकृष्ण परमहंस का व्यक्तित्व भी कैसा चमत्कारी था ! उनके पिता रघुवीरजी की उपासना करते थे। रामकृष्ण के गर्भ में आने से पहले ही रघुवीरजी ने उनकी माँ को स्वप्न में दर्शन दिए थे और कहा था, हम तुम्हारे पुत्र-रूप में अवतीर्ण होंगे। रामकृष्ण भगवान् के अवतार थे। साधना लोक-दिखावे के लिए करते थे; सिद्ध पुरुष तो वह जन्म से थे। जब निरे बालक थे, तभी आकाश में हंसों को उड़ते देखकर समाधि में लीन हो गए थे। उन्होंने ब्याह किया पर वह साधारण जनों का-सा ब्याह थोड़े ही था। योग दृष्टि से उन्होंने पहले ही मालूम कर लिया था कि उनकी पत्नी कहाँ है। उन्होंने घर वालों को बता दिया, वहाँ चले जाओ; ऐसी-ऐसी लड़की मेरी पत्नी है, उससे सम्बन्ध पक्का कर आओ। सारदा मणिदेवी उनकी पत्नी क्या थीं, साक्षात् सरस्वती थीं। ब्रह्मरूप पति के साथ विद्या की ज्योति की तरह रहती थीं। रामकृष्ण परमहंस के मन में पत्नी को देखकर ज़रा भी काम-विकार उत्पन्न न होता था।

स्वामी विवेकानन्द संन्यासी होने से पहले जब पढ़ते थे, तब रामकृष्ण से पूछने आए थे, "क्या आपने ईश्वर देखा है ?" रामकृष्ण ने उन्हें ज़रा-सा छू दिया। तमाम पृथ्वी, पेड़-पौधे नज़र के सामने चक्कर खाने लगे। विवेकानन्द भय से चिल्लाए। रामकृष्ण ने उन्हें फिर छू दिया। तब वह अपनी पहले जैसी स्थिति में आए। पश्चिम का जड़ विज्ञान यह सब-कुछ नहीं मानता पर भारत अपनी इस अध्यात्म-विद्या के कारण महान् है।

सुर्जकुमार को अब स्वप्न में कभी महावीर दिखाई देते, कभी स्वामी प्रेमानन्द, कभी मनोहरादेवी। महावीर कभी गदा लिये वीर रूप में प्रकट होते, कभी भक्त रूप में हाथ जोड़े हुए। आकाश में देवता के ही समान कभी प्रकाशमान स्वामी प्रेमानन्द दिखाई देते। मनोहरादेवी साक्षात् सरस्वती के रूप में आतीं और माथे का सिन्दूर दिखाकर कहतीं, महावीर को मैं मस्तक पर धारण करती हूँ। प्रिया जब सरस्वती बन गई तब काम-संस्कार भस्म हो गए। जब उसने मस्तक पर सिन्दूर रूप में महावीर को धारण कर लिया तब पत्नी के ध्यान और अखण्ड ब्रह्मचर्य व्रत का समन्वय हो गया।

सुर्जकुमार आठ प्रहर में आधे समय स्वप्न-लोक में रहते और आधे समय प्रत्यक्ष संसार में। जिस स्वप्न-लोक में वह महावीर-प्रेमानन्द-मनोहरादेवी को देखते थे, उससे प्रत्यक्ष संसार एकदम भिन्न था। आये-दिन प्रजा के उत्पीड़न के बारे में कोई-न-कोई कथा सुनने को मिलती। एक दिन उन्होंने सुना, नहर के किनारे किसी गाँव के पुजारी को राजा के सिपाहियों ने मारा है। राजा किश्ती पर हवा खाने निकले थे। साथ में कुछ पहलवान और सिपाही थे। कुछ सिपाही नहर के किनारे-किनारे नाव के साथ पैदल दौड़ने लगे। अचानक उन्होंने देखा, एक पुजारी नहर के किनारे खड़ा हुआ राजा को देखकर मुँह से अजीब-सी आवाज़ कर रहा

है। जब राजा की निगाह उस तरफ गई तो उसने पेट खला कर हाथों से उसे मला, यानी वह भूखा है, यह वता दिया। फिर मुँह थपथपाया और हवा में दोनों हाथों के अँगूठे हिलाए, जिसका मतलब था कि कोई सुनवाई नहीं, खाने को कुछ नहीं है।

राजा ने किश्ती की रफ्तार धीमी करा दी। कुछ दूर वह पुजारी साथ दौड़ा। तब तक पीछे से सिपाही भी आ पहुँचे। राजा का इशारा पाकर सिपाहियों ने पुजारी को पकड़ लिया। कहा, ठेंगा दिखाता है हमारे महाराज को ? उसे खूब मारा, फिर उसकी दोनों हथेलियाँ और उँगलियाँ लाठी के गूले से कुचल डालीं। पुजारी के घर में सत्रह साल की विधवा बेटी, दो छोटे लड़के और पत्नी थीं। ये सब दाने-दाने को मोहताज हो गए। पुजारी देवी के मंदिर में पूजा करता था, प्रतिदिन उसे तीन पाव चावल और चार केले मिलते थे, महीने के अन्त में तीन रुपये। उसे डेढ़ साल से यह वृत्ति न मिली थी। उसने दरखास्तें भेजी थीं, कोई सुनवाई न हुई थी, तभी उसने राजा से अपनी बात कहने का वह ढंग निकाला था। अब उसे मंदिर में पूजा के उस काम से भी अलग कर दिया गया।

ऐसी घटनाएँ राज्य में आये-दिन हुआ करती थीं। सुर्जकुमार सुनते और सोचते—आखिर भगवान् इनके लिए कुछ क्यों नहीं करते ? वह कमल और गुलाब के फूलों से महावीर का शृंगार करते और सोचते, यह प्रजा के पक्ष में क्यों नहीं बोलते ? एक दिन सुर्जकुमार ने सपने में देखा। अँधेरे जल पर कमल खिला है; कह रहा है, मैं तो राजा का था, तुमने क्यों तोड़ा ? फिर एक गुलाब सामने आ गया; बोला, मुझे छूने का तुम्हें क्या अधिकार था ? सुर्जकुमार परेशान होने लगे। कहाँ से फूल लायें जो राजा के न हों, जिनसे महावीर स्वामी को सजायें ? तभी सपने में महावीर आये। समझाया, "वत्स, यहाँ कौन-सी चीज़ राजा की नहीं है ? यह मूर्ति किसकी खरीदी है ? कौन पुजवाता है ?" सुर्जकुमार की परेशानी दूर होने के बदले और बढ़ गई। फूल ही राजा के नहीं, जिस मूर्ति को वह फूलों से सजाते हैं, वह भी राजा की है। उन्होंने सवाल किया, "ये गरीब मरे जा रहे हैं, इनका क्या होगा ?" स्वामी ने कहा, "जो राजा के लिए है, वही इनके लिए। तुम अपना काम देखो।"

सुर्जकुमार को सन्तोष न हुआ। गरीब प्रजा का ध्यान सताने लगा। जर्मनी की लड़ाई खत्म हो चुकी थी। कुछ क्रान्तिकारियों ने जर्मनी से हथियार भिजवाकर भारत में सशक्त विद्रोह के लिए प्रयत्न किया था, पर वे सफल न हुए। जो नेता युद्ध में अंग्रेज़ों की सहायता करके बड़ी आस लगाए बैठे थे कि लड़ाई खत्म होने पर डोमीनियन स्टेटस मिल जायगा, वे बड़े निराश हुए। अंग्रेज़ों ने स्वराज्य की माँग का जवाब रॉलट ऐक्ट और जलियाँवाला बाग से दिया। देश के नौजवान क्रोध से तिलमिला उठे। आपस में वे बातें करते कि अंग्रेज़ी राज का खातमा किस उपाय से किया जाय। सुर्ज-कुमार बंगला के अखबार पढ़ते, मित्रों से देश-विदेश की चर्चा करते। कुछ नौजवान लुक-छिपकर उन्हें क्रान्तिकारियों के बारे में वह साहित्य पढ़ने को देते जिस पर सरकार ने प्रति-बन्ध लगा रखा था। सुर्जकुमार तेज़ी से राजनीति की तरफ खिचने लगे।

सन् '२० में गांधीजी ने असहयोग आन्दोलन शुरू किया। हिन्दुओं और मुसलमानों की मैत्री के अभूतपूर्व दृश्य देखे गए। दूर-दूर देहातों तक चरखे का प्रचार होने लगा। बंगला पत्रों में सुर्जकुमार रूसी क्रान्ति और वहाँ एक नये समाज की रचना का हाल पढ़ते। महिषादल के आसपास के गाँवों में जाते; मित्रों के साथ वहाँ किसानों, कोरियों, जुलाहों आदि का संगठन करते, उन्हें स्वदेशी का महत्त्व समझाते। हर जगह राष्ट्रीय गीतों की धूम थी। सुर्जकुमार बड़े प्रेम से ये गीत पढ़ते और गाते। उन्हें द्विजेन्द्रलाल राय के गाने विशेष रूप से पसन्द थे। उन्होंने स्वयं राष्ट्रीय गीत लिखने का विचार किया। सन् '२० के वसन्त में सुर्जकुमार ने जन्मभूमि पर एक गीत लिखा :

वन्दूं मैं अमल-कमल,—
चिर सेवित चरण युगल—
शोभामय शान्ति निलय पाप ताप हारी,
मुक्तबन्ध, घनानन्द मुद मंगलकारी ।।
वधिर विश्व चकित भीत सुन भैरव वाणी ।
जन्मभूमि मेरी है जगन्महारानी ।।
मुकुट शुभ्र हिमागार ।
हृदय बीच विमलहार—
पञ्च सिन्धु ब्रह्मपुत्र रवितनया गङ्गा ।
विन्ध्य विपिन राजे घनघेरि युगल जङ्घा ।।
वधिर विश्व चकित भीत सुन भैरव वाणी ।
जन्मभूमि मेरी है जगन्महारानी ।।

त्रिदश कोटि नर समाज,
मधुर-कंठ-मुखर आज ।।
चपल चरण भंग नाच तारागण सूर्यचन्द्र ।
घूम चरण ताल मार गरज जलधि मधुर मंद्र ।।
बधिर विश्व चकित भीत सुन भैरव वाणी ।
जन्मभूमि मेरी है जगन्महारानी ।।

सुर्जकुमार का नया जीवन आरम्भ हुआ—कवि का जीवन। पर उन्हें अपना नाम सुर्जकुमार तेवारी ज़रा भी कवित्वपूर्ण न लगता था। इसे शुद्ध करके यदि सूर्यकुमार तेवारी कर दिया जाय, तब भी गिरीशचन्द्र घोष, द्विजेन्द्रलाल राय, बंकिमचन्द्र चट्टोपाध्याय अथवा रवीन्द्रनाथ ठाकुर के नामों के मुकाबले वज़न में कुछ हलका बैठता था। बहुत सोच-विचार के बाद उन्होंने अपना नया नाम रखा—सूर्यकान्त त्रिपाठी। सूर्यकुमार से सूर्यकान्त नाम सुनने में और अर्थ के विचार से भी ज्यादा अच्छा लगा। बहुत-से तेवारी अपने को त्रिपाठी लिखने लगे थे। अब कुछ लोग अपना नाम शुद्ध रूप में लिखते थे जैसे महावीर प्रसाद दुबे अपने को महावीर प्रसाद द्विवेदी लिखते थे। जन्मभूमि की वन्दना से रामसहाय तेवारी के पुत्र सूर्यकान्त त्रिपाठी ने अपनी साहित्य-साधना आरम्भ की।

कविता लिख गई लेकिन कहाँ भेजें? गणेश शंकर विद्यार्थी का नाम सुना था। कानपुर से उन्होंने 'प्रताप' के अलावा 'प्रभा' मासिक पत्रिका प्रकाशित की थी। सूर्यकान्त ने अपनी कविता वहीं भेजी। कविता स्वीकृत हो गई। जून १९२० की 'प्रभा' में प्रकाशित हुई। छपी हुई कविता देखकर वह खूब प्रसन्न हुए। उनके बंगाली मित्रों को यह खबर मिलते देर न हुई कि सुर्जकुमार कविता लिखते हैं और वे छप भी जाती हैं पर वह हिन्दी में लिखते हैं। काव्य-चर्चा के प्रसंग में हिन्दी और बंगला के साहित्य पर बहस छिड़ जाती। सन् '२० के आन्दोलन के साथ राष्ट्रभाषा का सवाल भी एक राजनीतिक समस्या की तरह लोगों के सामने आया। उस समय अनेक बंगाली विद्वान् इस बात का प्रचार करते थे कि हिन्दी को राष्ट्रभाषा का पद मिलना चाहिए। एक बार सूर्यकान्त ने स्टीमर में यात्रा करते हुए बंगाल के प्रसिद्ध विद्वान् नगेन्द्रनाथ सेन की बातचीत सुनी। स्टीमर आर्मीनियन घाट से घाटाल जा रहा था। उसी पर तामलुक के एक वकील थे जो नगेन्द्रनाथ से बहस कर रहे थे कि अंग्रेजी के साथ दूसरी भाषा का दबाव छात्रों पर डालना अनुचित है। सेन महाशय का कहना था कि राष्ट्रभाषा कोई विदेशी भाषा नहीं, भारत की भाषा ही हो सकती है और वह भाषा हिन्दी है।

सूर्यकान्त दोनों के तर्क ध्यान से सुनते और उन पर विचार करते रहे। उन्हें ज्यादातर साहित्यप्रेमी युवक ऐसे मिलते जो बंगला पर अभिमान करते और हिन्दी को उपेक्षा की दृष्टि से देखते थे। सूर्यकान्त अब ज़ोरों से हिन्दी और बँगला-साहित्य के अध्ययन में जुट गए। बंगला में काव्य, नाटक, कथा-साहित्य की अनेक पुस्तकें उन्होंने पढ़ीं। हिन्दी की पुस्तकें उधर कम मिलती थीं, फिर भी 'सरस्वती' वह नियमित रूप से पढ़ते थे। उसके माध्यम से वह हिन्दी-साहित्य के विकास से काफी परिचित हो गए। 'प्रभा' 'प्रताप' आदि पत्र-पत्रिकाएँ भी जब-तब पढ़ने को मिल जाती थीं। गयाप्रसाद शुक्ल 'सनेही', दूसरा उपनाम त्रिशूल, की राष्ट्रीय कविताएँ उन्हें विशेष अच्छी लगती थीं। नाथूराम शर्मा शंकर की भाषा उन्हें बहुत पसन्द थी। बंगला के मुकाबले हिन्दी कविता उन्हें काफी पिछड़ी हुई मालूम होती थी, पर केवल भाषा की दृष्टि से वह हिन्दी को बंगला से श्रेष्ठ मानते थे।

राष्ट्रभाषा-सम्बन्धी विवाद में वह बंगाली मित्रों से कहते—माना कि बंगला का साहित्य श्रेष्ठ है पर भाषा के अवगुण तो देखिए। इसके उच्चारण मार्ग पर बचपन से जीभ न फेरी जाय तो वह कभी शुद्ध चाल चल ही नहीं सकती। दूसरे प्रान्त के लोग जब बंगला कविता पढ़ते हैं तो जीभ हैरान हो जाती है। ऐसी भाषा कहीं राष्ट्रभाषा हो सकती है?

उनके बंगाली मित्र कहते—बंगला भाषा का माधुर्य कौन नहीं जानता? किस भारतीय भाषा में ऐसी कोमलकान्त पदावली है जैसी रवीन्द्रनाथ की रचनाओं में है? उनके काव्य का रसपान करने के लिए ही अनेक देशी-विदेशी विद्वान् आज बँगला सीख रहे हैं। बँगला भाषा भारत की श्रेष्ठ भाषा है, उसके महत्त्व को कौन अस्वीकार कर सकता है?

मित्रों से ऐसे तर्क सुनकर सूर्यकान्त कहते—कोमलता स्त्री का धर्म है। बंगालियों की भाषा ही क्या, उनकी वेश-भूषा, हाव-भाव, रहन-सहन—हर चीज़ में कोमलता दिखाई

देती है। पर देश को कोमलता नहीं, पौरुष चाहिये। आवाज़ अगर बुलन्द न हो तो भाषा में गम्भीर भाव पैदा नहीं हो सकते। बँगला में बुलन्दपन की कमी है, इसलिए वह गम्भीर भाव प्रकट नहीं कर सकती। जब बंगालियों को गम्भीर भाव प्रकट करना होता है तब वे हिन्दी शब्दों का सहारा लेते हैं। जैसे "चुप कर" न कहकर कहेंगे, "चोप राव"।

इस पर बंगाली मित्र रवीन्द्रनाथ की कविताओं से उद्धरण देकर पूछते—इसमें गम्भीर भावों की कमी है ?

सूर्यकान्त हुज्जत करते—उच्चारण अस्वाभाविक, छन्द अस्वाभाविक, भाव में गम्भीरता कहाँ से आयेगी ? बंगाली दीर्घ स्वरों का भी ह्रस्व जैसा उच्चारण करते हैं। यह कोई आर्य तरीका है ? कविता लिखते हैं तो मात्राओं पर ध्यान नहीं देते, अक्षर गिनते हैं।

बनेर पाखी गाहे बाहिरे बसि बसि
बनेर गान छिल जत,
खांचार पाखी, पड़े शिखानो बुलितार
दोहार भाषा दुइ मत।

ज़रा गिनिये मात्राएँ।

सूर्यकान्त अक्षर गिनाते—१४। फिर मात्राएँ गिनाते—२१। पहली पंक्ति के जोड़ की तीसरी पंक्ति—अक्षर वही १४, लेकिन मात्राएँ २२। ऐसे ही दूसरी और चौथी पंक्तियों में अक्षर नौ-नौ लेकिन मात्राएँ ११ और १३। जब मात्राएं बराबर न होंगी तब संगीत का सहज प्रवाह भी नष्ट हो जाएगा। "बनेर पाखी गाहे बाहिरे बसि बसि" को अगर यों लिखा जाय—"सकल खग कुल कहत बसि बसि" तो देखिए प्रभाव कितना स्वाभाविक हो जाता है।

इसके बाद बहस उच्चारण की वैज्ञानिकता को लेकर होने लगती। मित्र कहते—हिन्दी का कोई अपना उच्चारण नहीं, पूरब और पछाँह वाले अलग-अलग ढंग से बोलते हैं। हिन्दी लेखक उर्दू की खिचड़ी पकाते हैं। बँगला में जैसी परिष्कृत तत्सम शब्दावली है, वैसी हिन्दी में कहाँ है ?

सूर्यकान्त उत्तर देते—आप लोगों का उच्चारण आर्य न होकर मंगोलियन है। शुद्ध 'अ' का उच्चारण आप कर ही नहीं सकते। गोल-गोल औकार जैसा बोलते हैं। वैसे ही ऐ को 'ओइ' और 'औ' को 'ओउ' कहते हैं। ओइतिहासिक, ओउशध—यह भी कोई उच्चारण है ? श, ष, स में कोई भेद ही नहीं। शमाज, शंध्या, शावधान, शंशार— मारे 'श' के नाक में दम। ण और व की ध्वनि ही नहीं। तेवारी को कहेंगे तेओयारी, मेवा को मेओया ! लक्ष्मी को लक्खी, ऐक्य को ऐक्क, अध्ययन को अद्धयन···

बहस में काफी गर्मी आ जाती और झगड़ा करते हुए मित्र अलग होते। सूर्यकान्त के मित्रों में वहाँ हिन्दी भाषा और साहित्य का कोई अच्छा जानकार नहीं था, उन्हें बंगाली मित्रों से अकेले ही वाक्-युद्ध करना पड़ता। शरीर साढ़े पाँच फुट से ऊपर, सीना तगड़ा, आवाज़ बुलन्द—वह बहस में दबते न थे। बंगाल की हुज्जत मशहूर है। इस कला का उन्होंने अच्छा अभ्यास किया। महिषादल में रहकर बंगाली मित्रों से हिन्दी आलोचना सुनने के कारण उनमें जातीय अभिमान का भाव दृढ़ हो गया। उन्होंने तै किया कि बंगला उच्चारण के बारे में उन्होंने जो रिसर्च की है, उसका ज्ञान अन्य हिन्दीभाषियों को भी कराना चाहिए। उन्होंने उसी साल अगस्त में एक लेख लिखा, "बंगभाषा का उच्चारण"। इसमें उन्होंने वे सब तर्क सजाकर रखे जिन्हें अपने मित्रों के सामने बहस के दौरान वह पेश करते थे। तै किया कि इसे 'सरस्वती' में भेजेंगे। उन्होंने द्विवेदीजी को पत्र लिखा :

'श्री हरिः

Mahishadal Raj
26-8-20

परम पूजनीय
श्री १०८ महावीर प्रसादजी
द्विवेदी महाराज,
श्री चरणों में

बाबा,

सेवा पर 'बंग भाषा का उच्चारण' शीर्षक लेख भेजता हूँ। आशा है, बंग प्रवासी एक अपरिचित सन्तान के परिश्रम को आप सफल करेंगे। इस लेख को 'सरस्वती' में स्थान मिलेगा। इति—

आपका अपरिचित किन्तु—
आपका एकान्त सेवक
सूर्यकान्त त्रिपाठी'

आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी 'सरस्वती' से अवकाश ग्रहण कर चुके थे, पर लेख स्वीकृत हो गया। देवीदत्त शुक्ल ने जहाँ-तहाँ कुछ शब्द बदलकर लेख छाप दिया। दिसम्बर

'२० की 'सरस्वती' में सूर्यकान्त त्रिपाठी का पहला गद्य लेख प्रकाशित हुआ।

द्विवेदीजी के यहाँ आये-दिन दर्जनों होनहार लेखकों के पत्र आते थे। सभी उन्हें गुरु मानते थे, सभी दण्डवत् करते थे और लगभग सभी का उद्देश्य होता था कि उनकी रचनाएँ 'सरस्वती' में प्रकाशित हो जाएँ। उन्हें लगा कि यह सूर्यकान्त नाम का व्यक्ति, जो उन्हें असंख्य प्रणाम-दंडवत् लिखता है, अवश्य उनके सहारे हिन्दी में आगे आने के उद्देश्य से उनकी खुशामद कर रहा है। सूर्यकान्त के एक पत्र के उत्तर में उन्होंने अपने इस भाव का संकेत करते हुए पूछा—आप कहाँ के रहने वाले हैं, क्या उम्र है, कुटुम्ब में कौन-कौन है, क्या व्यवसाय होता है, इत्यादि। सूर्यकान्त ने 'बाबा के श्री चरण कमलों में असंख्य भूमिष्ठ प्रणाम' निवेदित करने के बाद उन्हें सूचित किया, "आपकी इस लिखावट से मालूम हो रहा है कि मेरे पूर्व प्रेरित पत्र की व्याख्या विज्ञ-दृष्टि से नहीं की गई। उस पत्र को फिर से पढ़िये। देखिए तो, उसमें स्वार्थ का गुप्त वर्णन है या बन्धुता का विशद विवेचन ? उससे सम्बन्ध जोड़ने की आशा व्यक्त होती है या जुड़े हुए सम्बन्ध का प्रमाण।"[२]

सूर्यकान्त पहले हिन्दी-लेखक थे जो महावीर प्रसाद द्विवेदी से कह रहे थे, आपने मेरे पत्र की व्याख्या विज्ञ-दृष्टि से नहीं की। अभी केवल एक कविता छपी थी 'प्रभा' में और एक लेख छपा था, 'सरस्वती' में, पर तेवर ऐसे मानों सत्रह साल तक 'सरस्वती' का सम्पादन इन्हीं ने किया हो। पर सूर्यकान्त त्रिपाठी ने द्विवेदीजी के सरोष मुख पर शीतल चन्दन के छींटे भी दिये, "आप हिन्दी संसार के स्वनामधन्य पुरुष हैं। मैं आपको हृदय से पूजता हूँ। यही आपसे मेरा सम्बन्ध है। इससे अधिक मधुरता और किस सम्बन्ध में है ?"

इस भूमिका के बाद सूर्यकान्त ने द्विवेदीजी के प्रश्नों का उत्तर देते हुए अपना परिचय लिखा—"मैं कान्यकुब्ज ब्राह्मण हूँ। आपका पड़ोसी हूँ। उन्नाव ज़िले के पूर्व्वा के पास का रहने वाला हूँ। उम्र २२, शरीर पाँच फुट ११½ इंच लम्बा, छाती ३६ इंच चौड़ी। हृष्ट पुष्टांग न तु स्थूलकाय। अक्षर हूँ, न साक्षर और न निरक्षर। सगा यानी माता, पिता, भाई, बहन, चाचा, चाची, स्त्री संसार कोई नहीं। सब थे किन्तु १६१८ के इन्फ्लुएंजा में सब गुजर गए। जीवन का लक्ष्य निरे बाल्यकाल से है परमपदलाभ। रामकृष्ण मठ के संन्यासी मुझ पर विशेष कृपादृष्टि रखते हैं। स्वामी प्रेमानन्द ने कहा था—तुम्हारा विचार ठीक है।

"मेरा दृढ़ विश्वास है कि मुझ पर ईश्वर की कृपा हो, परन्तु उपस्थित स्थिति मेरी क्रमोन्नति पर बाधा डाल रही है। मेरे सिर पितृमातृहीन छः नाबालक भतीजे आदि का पालन-भार अर्पित है। इसलिए अभी मैंने नौकरी करना स्वीकार किया है। लड़कों को सबालक करके अपने लक्ष्य पर बढ़ूंगा। मैं एक साधारणवित्त मनुष्य हूँ। विद्वन्मण्डली के सामने मेरा परिचय मूर्खों में है।

"मेरे पिता-पितृव्य इस स्टेट में फौजी अफसर थे। गण्य-मान्य थे। मेरा जन्म यहीं हुआ। शिक्षा यहीं मिली। हिन्दी मैंने किसी व्यक्ति-विशेष से नहीं सीखी। यहाँ हिन्दी का एक भी ज्ञाता नहीं। (आप पर भक्ति का एक कारण यह भी है।)

"महाराज महिषादल मुझ पर अत्यन्त कृपा करते हैं। महाराज दो भाई हैं। बड़े राजा—सतीप्रसाद गर्ग और छोटे राजा—गोपालप्रसाद गर्ग हैं। इनके पूर्व्व पुरुष ज़िला बाँदा के रहनेवाले थे। राजा रामनाथ गर्ग की रानी पति-शव को लेकर चिता पर चढ़ने के पूर्व दरिद्रवेशी—समागत—लक्ष्मण-प्रसाद को, जोकि वर्तमान नरेश के आजा थे, राज्यासन पर स्थापित कर गई थीं। इस राज्य की गवर्नमेंट रेवेन्यू ३,३६,००० है और वार्षिक आमदनी है १२,००,०००।"

राज्य की विशद आमदनी तथा अपनी वैराग्य-भावना—दोनों से गुरुवर द्विवेदी को प्रभावित करने के बाद पत्र के अन्त में लिखा :

"अधिक और क्या लिखूं ? संक्षेप में आपके आग्रह को पूरा कर चुका।

"जगन्नियन्ता का नियम है कि सेवा सेव्य की आत्मा पर तृप्ति की और सेवक की आत्मा पर शुद्धि की छाप लगाकर दोनों के उन्नति-मार्ग को साफ़ करती है। मनोराज्य के इस नियम को मैं निश्छल होकर प्रणाम करता हूँ।"

हस्ताक्षर के बाद एक वाक्य और जोड़ दिया "हिन्दी सिखाइये"। जितनी हिन्दी उन्हें द्विवेदीजी से सीखनी थी, उतनी 'सरस्वती' के अंक पढ़कर अब तक वह सीख चुके थे। यह केवल उनकी विनम्रता थी जो द्विवेदीजी से हिन्दी सिखाने के लिए कह रहे थे। जहाँ तक दर्शन शास्त्र का सम्बन्ध था, वह दो-एक ज्ञान की बातें आचार्य द्विवेदी को भी सिखा सकते थे। सेवा से जहाँ सेवक की आत्मा शुद्ध होती

है वहाँ सेव्य की आत्मा भी तृप्त होती है। अर्थात् सूर्यकान्त-महावीर प्रसाद सम्बन्ध एक-तरफा व्यापार नहीं है। इससे लाभ द्विवेदीजी को भी है। सूर्यकान्त उनसे इसलिए सम्बन्ध कायम नहीं कर रहे हैं कि उनके सहारे साहित्य-क्षेत्र में आगे बढ़ चलें, जीवन का लक्ष्य साहित्य-सेवा नहीं, परमपद-लाभ है।

सूर्यकान्त कभी-कभी बेलूड़ के मठ जाते, स्वामी प्रेमानन्द के दर्शन करते, दूसरे संन्यासियों के साथ दरिद्रों की सेवा के लिए गाँवों की यात्रा करते। परन्तु उनका मन इस समय केवल धर्म-साधना पर केन्द्रित न था। राजनीति और साहित्य—दोनों उन्हें अपनी ओर आकर्षित कर रहे थे।

एक दिन सूर्यकान्त को पुलिस ने गिरफ्तार कर लिया। उन पर आरोप यह लगाया गया कि उन्होंने मदन गोपाल के मन्दिर से गहने चुराये हैं। इस मन्दिर के बाहर संगमर्मर की सुन्दर बेंचें हैं। सूर्यकान्त अक्सर वहाँ जाकर बैठते और कभी-कभी कविताएँ लिखते। मन्दिर में राधाकृष्ण की मूर्तियों को बहुमूल्य स्वर्णाभूषण पहनाये गये थे। एक रात ये गहने चोरी चले गये। पुलिस ने सूर्यकान्त को हिरासत में ले लिया। राजा अथवा राज-परिवार की ओर से कोई संकेत न दिया गया था कि उन्हें सूर्यकान्त पर शक है। फिर भी पुलिस ने इन्हें गिरफ्तार कर लिया। राजा सतीप्रसाद गर्ग ने इनके चाल-चलन के बारे में पुलिस को आश्वासन दिया और इन्हें हवालात से छुड़ा लिया।

कुछ दिन बाद एक दुर्घटना और हुई। महिषादल में एक साधु आये, पुराने ढंग के, चिमटा-धूनी वाले। राजमहल के सुपरिंटेंडेंट साधु को कुछ देना चाहते थे परन्तु सूर्यकान्त ने राजा से साधु की बुराई की और सलाह दी, "राजकोष का रुपया इस तरह नहीं खर्च करना चाहिये।" एक रात जब सूर्यकान्त राजमहल से अपने घर लौट रहे थे, तब हाथीखाने के पास उन्हें वही सुपरिंटेंडेंट मिले। इन्हें लगा, सुपरिंटेंडेंट के मुँह से शराब की बू आ रही है। यह समाचार भी इन्होंने राजा तक पहुँचा दिया। इस पर सुपरिंटेंडेंट से पूछताछ हुई, उन्होंने इन्कार किया। इस पर राजा का हुक्म हुआ कि दोनों आदमी मदन गोपालजी के मन्दिर में कसम खाकर सच-सच बतायें कि क्या हुआ था। सूर्यकान्त ने कसम खाई कि उन्हें शराब की-सी बू आई थी; सुपरिंटेंडेंट ने कसम खाई कि उन्होंने शराब छुई न थी। बात खत्म हो गई, पर सूर्यकान्त को लगा कि कसम खाने के लिए मजबूर करके उनका भारी अपमान किया गया है। कसम खिलाए बिना ही राजा को उनकी बात पर विश्वास कर लेना चाहिए था। यह न करके उन्होंने सुपरिंटेंडेंट और उन्हें एक ही तराजू से तोला। सुपरिंटेंडेंट बदनाम आदमी थे, शराब के अलावा उनमें और भी व्यसन थे, इस बात को राज्य के बहुत-से लोग जानते थे। इसलिए सूर्यकान्त को और भी बुरा लगा। उन्होंने राजा को लिखा, "मेरे धर्म-स्थल पर हस्तक्षेप करने का आपको कोई अधिकार न था। फिर मैंने सुपरिंटेंडेंट साहब की नौकरी लेने के लिए नहीं कहा था।" इसके साथ उन्होंने नौकरी से इस्तीफ़ा दाखिल कर दिया।

राजा ईश्वरप्रसाद गर्ग के समय से इस राज्य के साथ रामसहाय तेवारी के परिवार का जो सम्बन्ध चला आ रहा था, उसे सूर्यकान्त त्रिपाठी ने एक झटके से तोड़ दिया। कोई बहुत बड़ी नौकरी नहीं थी, फिर भी घर का खर्च चल जाता था। अपने खर्च के अलावा वह गाँव में अपने भतीजों के लिए रुपये भेजते थे। एंट्रेन्स फेल आदमी को नौकरी मिलना आसान नहीं था। राजा की नौकरी से इस्तीफ़ा देने के बाद महिषादल में बने रहना संभव न था। गाँव में खेती-पाती के भी विशेष साधन न थे। महिषादल की नौकरी से मन में एक सुरक्षा का भाव बना हुआ था। अब असुरक्षित दशा में जहाँ-तहाँ भटकना होगा, यह निश्चित था। सूर्यकान्त जल्दबाज़ी में कोई काम न करते थे। उनको राज्य की नौकरी वैसे ही नापसन्द थी। वहाँ रहते हुए गरीब प्रजा का उत्पीड़न उनसे देखा न जाता था। वह स्वयं अलग होने की बात सोच रहे थे। तभी मन्दिर में कसम खाने की घटना हुई। उन्होंने महिषादल छोड़ने का निश्चय कर लिया।

राजा ने इस्तीफा मंजूर न किया। पर मंजूरी की चिन्ता न करके सूर्यकान्त त्रिपाठी ने अपना सामान नीलाम किया। बड़ा भतीजा महिषादल में था। उसे साथ लेकर सन् '२१ की गर्मियों में उन्होंने गढ़ाकोला की ओर प्रस्थान किया।

टिप्पणी

१. 'कविता-कौमुदी' में प्रकाशनार्थ अपने परिचय में निराला ने यह जन्मतिथि रामनरेश त्रिपाठी को लिखकर भेजी थी।

२. महावीर प्रसाद द्विवेदी, दौलतपुर को महिषादल से सूर्यकान्त त्रिपाठी, ११. १. २१.

हिन्दी का नया नाटक साहित्य

श्री विष्णुकान्त शास्त्री

हिन्दी नाटक साहित्य के अतीत का यह दुर्भाग्य रहा है कि सांस्कृतिक दृष्टि-सम्पन्न नाटककार और कलाबोधयुक्त रंग-निर्देशक का सम्मिलन नहीं हो सका। राहु और केतु की तरह हिन्दी नाटक के मस्तक और शरीर अलग-अलग ही रहे। हिन्दी नाटक साहित्य के इतिहास-ग्रन्थों में साहित्यिक और रंगमंचीय इन दो वर्गों में हिन्दी नाटकों का वर्गीकरण बेखटके किया जाता रहा तथा उनकी आलोचना में अधिमान तथाकथित साहित्यिक नाटकों को ही दिया जाता रहा। व्यवसायी रंगमंचीय नाटकों की चर्चा करीब-करीब जाति-भ्रष्टों की तरह तथा अव्यवसायी रंगमंचीय नाटकों की चर्चा उनकी तनूकृत साहित्यिकता के लिए किंचित् उदारतापूर्वक की जाती थी। आज स्थिति यह है कि नये नाटककार एवं निर्देशक उस रचना को नाटक मानने के लिए तैयार ही नहीं हैं जो रंगमंच पर खरी न उतरे। रंगमंचबोध-विहीन कोरी साहित्यिक नाट्यकृति के लिए अवज्ञासूचक शब्द चल पड़ा है पाठ्यक्रमीय नाटक या कोर्सबुकी नाटक। यह कहना तो अन्याय होगा कि तथाकथित साहित्यिक नाटक पाठ्यक्रम के लिए ही लिखे जाते रहे; किन्तु इससे इन्कार नहीं किया जा सकता कि ऐसे कुछ नाटककारों की दृष्टि पाठ्यक्रम की ओर भी लगी रहती थी। 'रक्तदान' के प्रवेश में श्री हरिकृष्ण प्रेमी की संस्वीकृति है, "फिर बात यह है कि मेरे जैसे लेखक के नाटक पाठ्य-पुस्तक भी बनते हैं। हमारे अध्यापकों को शिकायत होती है कि छोटे-छोटे कथोपकथनों में ऐसा क्या हो सकता है जिसे शिक्षक पढ़ाये और किस प्रकार के प्रश्न उन पर करे? पैसा देनेवाला रंगमंच तो हमारे पास है नहीं और लेखक को रोटी तो खानी है, तब अध्यापकों की माँग भी पूरी करनी पड़ेगी।"[१] ऐसे नाटककारों के प्रति सहानुभूति रखते हुए भी, जो स्वयं उनकी दृष्टि में 'कला के प्रति बेईमानी' है, उसका समर्थन कैसे किया जा सकता है। वस्तुतः पारसी रंगमंच की विकृति और प्रतिष्ठित हिन्दी नाटककारों की अभिजात प्रवृत्ति के द्वन्द्व ने नाटकों के साहित्यिक एवं रंग-मंचीय जैसे सर्वथा भिन्नजातीय प्रतीत होने वाले कृत्रिम वर्गीकरण को कुछ काल के लिए वास्तविक-सा बना दिया था। निश्चय ही यह समकालीन हिन्दी नाटक की एक बड़ी उपलब्धि है कि नये नाटककारों तथा रंगशिल्पियों के पारस्परिक सहयोग के फलस्वरूप अब न तो भावपूर्ण, गंभीर नाट्य-कृतियों को रंगशिल्पियों द्वारा अनभिनेय घोषित किया जाता है, न रंगमंच का अनुशासन मानने में नाटककारों को अपमान का बोध होता है। 'अन्धायुग', 'आषाढ़ का एक दिन' तथा 'खंडित यात्राएँ' जैसे नाटकों का मंचन एवं अश्क, राकेश, कमलेश्वर द्वारा नाट्य-प्रयोग के अनुभवों के आधार पर अपनी कृतियों में संशोधन, परिवर्तन इस बढ़ती हुई स्वस्थ प्रवृत्ति के निश्चित प्रमाण हैं। आज केवल सिद्धान्त के रूप में ही नहीं, व्यवहार में भी यह मान लिया गया है कि नाटक केवल साहित्यिक आलेख न होकर दृश्यतत्त्वयुक्त वह समन्वित कला है जिसकी रचना लेखक, निर्देशक, अभिनेता, अन्य मंचशिल्पी एवं दर्शक संयुक्त रूप से करते हैं। यह ठीक है कि बीजप्रदाता के रूप में इनमें लेखक ही सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। दुर्बल साहित्यिक कृति का उत्कृष्ट प्रदर्शन भी उसे श्रेष्ठ नाटक का गौरव नहीं दे सकता। इप्टा और पृथ्वी थियेटर्स के नाटक इस कथन के प्रमाण हैं। अश्क ने 'पैंतरे' की भूमिका में बलराज साहनी के नाटक 'जादू की कुर्सी' की तथा धर्मवीर भारती ने अनामिका नाट्य महोत्सव में पठित अपने निबन्ध[१] में पृथ्वीराज के नाटकों 'पैसा', 'पठान', 'दीवार' की

१. रक्तदान—(पृ० ६—हरिकृष्ण प्रेमी)।

१. उक्त निबंध नटरंग के प्रवेशांक (जनवरी १९६५) में 'हिन्दी नाट्यलेखन : कुछ समस्याएँ' नाम से प्रकाशित हो चुका है।

इसी न्यूनता की उचित आलोचना की है। इससे नये हिन्दी नाटककारों की प्रबुद्धता व्यक्त होती है कि उन्होंने अरंगमंचीय साहित्यिकता तथा असाहित्यिक रंगमंचीयता इन दोनों अतिरेकों से अपनी कृतियों को बचाना चाहा है।

यह भी लक्षितव्य है कि नयी कविता, नयी कहानी, नयी आलोचना की तरह 'नया नाटक' जैसा कोई मुखर आन्दोलन हिन्दी में नहीं उठा। फिर भी चिन्तन और जीवन में परिव्याप्त नवीनता नाटक के क्षेत्र में भी झलकी ही है। आदर्शवादी स्वच्छन्दतावादी प्रवृत्ति के स्थान पर क्रमशः सामाजिक यथार्थ की ओर झुकाव और फिर उसके साथ-साथ चिन्तन-प्रधान, काव्यात्मक, प्रतीकात्मक शैलियों का स्वीकरण आधुनिक हिन्दी नाटकों में देखा जा सकता है। विश्व-साहित्य की नव्यतम प्रवृत्तियों की कलम हिन्दी में भी लगाने की झोंक के कारण अर्थहीन नाटक और अनाटक की चर्चा का क्षीण गुंजन भी सुना जा सकता है। हिन्दी नाटक के क्षेत्र में नवीनता का संचार अपेक्षाकृत रूप से निर्विरोध एवं एक सीमा के भीतर ही हुआ। इसके कई कारण हैं। एक तो अन्य साहित्य-विधाओं की तुलना में हिन्दी नाटक इतना विकसित नहीं था कि उसकी ऐसी सुनिश्चित परम्परा होती, जिसका अतिक्रमण आन्दोलनसाध्य होता, दूसरे नाटकों का क्षेत्र इतना 'अर्थप्रद' भी नहीं था कि स्थापितों और नवीनों में 'बाजार' पर कब्जा करने के लिए तीव्र द्वन्द्व होता, तीसरे कविता-कहानी में तीव्र विरोध के बावजूद अपने को प्रतिष्ठित कर लेने के बाद साहित्य की अन्य विधाओं में नवीनता की स्वीकृति सहज हो गयी।

विरासत के रूप में नये नाटक को अपने अव्यवहित पूर्व हिन्दी नाटकों से मुख्यतः प्राप्त हुई थी प्रसाद की काव्यगरिमा-युक्त आदर्शोन्मुख स्वच्छन्दतावादी नाट्य-परंपरा। हरिकृष्ण प्रेमी, उदयशंकर भट्ट, वृन्दावन लाल वर्मा, चन्द्रगुप्त विद्यालंकार, डॉ० रामकुमार वर्मा, सीताराम चतुर्वेदी, रामवृक्ष बेनीपुरी आदि नाटक-लेखक न्यूनाधिक रूप में उन्हीं आदर्शों से प्रेरित थे जिनसे प्रसाद परिचालित थे। प्रसाद शैली का सरलीकृत रूप ही इनकी कृतियों में उपलब्ध होता है। प्रसाद और उनके सहयोगियों द्वारा ऐतिहासिक नाटक-सम्बन्धी जनता की आकांक्षा को इतना संतृप्त कर दिया गया था कि उनके तत्काल बाद की पीढ़ी के नाटककारों को नयी शुरुआत करने के लिए सामाजिक यथार्थ के चित्रण की नयी भूमिका ग्रहण करनी पड़ी। किन्तु श्री लक्ष्मीनारायण मिश्र की उलझी हुई भावाक्षिप्त बुद्धिवादिता, सेठ गोविन्ददास की पत्रकारी रचनाधर्मिता तथा उपेन्द्रनाथ अश्क की सतही प्रगतिशील यथार्थवादिता कोई ऐसी कृति नहीं दे पाई जिसे बड़ी उपलब्धि के रूप में स्वीकार किया जा सकता। फिर भी स्वच्छन्दतावादी प्रवृत्ति के सम्मोहन से हिन्दी नाटक को मुक्त करने का श्रेय उन्हीं को प्राप्त है।

बाह्य यथार्थ के विरोध में तो नहीं किन्तु उससे कुछ अलग हटकर आभ्यन्तर यथार्थ का चित्रण करना नये हिन्दी नाटकों की एक विशिष्ट प्रवृत्ति है। आधुनिक समाज-व्यवस्थाओं ने मनुष्य के बाह्य आचरणों को नाना विधि-निषेधों की शृंखला से जकड़कर उसका जितना लौहसंघटन किया है, उसके आहत क्षत-विक्षत अन्तर का उतना ही विघटन हुआ है। आधुनिक मनुष्य के इसी आन्तरिक संकट को मूर्त करने का प्रयास नये नाटकों में परिलक्षित होता है।

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि सामान्य शिक्षित भारतीय जनमानस का विघटन १९५४-५५ के बाद ही तीव्रता से हुआ। उसके पूर्व देश-विभाजन एवं महात्मा गांधी की हत्या के बावजूद स्वतंत्रता, नेहरूछाप समाजवाद, प्रथम पंचवर्षीय योजना की आंशिक सफलता आदि के कारण पश्चिम के सामान्य शिक्षित जन की भाँति न तो भारतीय सामान्य शिक्षित व्यक्ति अपने को दिशाहीन समझता था, न प्रवंचित। उसी के अनुरूप तब तक की हमारी नाट्य-कृतियों में उतने तीव्र विक्षोभ, नैराश्य, लक्ष्यहीन विद्रोह आदि के स्वर नहीं मिलते। जैसे-जैसे उसे राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्रों में प्रवंचना का मर्मन्तुद अनुभव होता गया वैसे-वैसे हमारी कलाकृतियों में उत्तरोत्तर तिक्तता, दिशाहीनता, अनास्था के स्वर मुखर होते गये, तथापि अब भी यह सत्य है कि हमारी सर्जनात्मक दृष्टि सर्वथा आस्थाहीन नहीं हो गयी है।

इन नाटककारों में जिन्होंने व्यक्ति की अपेक्षाकृत आधारभूत समस्याओं को उठाया है उन्होंने निकटताजनित वर्तमान के ब्यौरों को काटकर उन मूलभूत समस्याओं को किसी ऐतिहासिक या पौराणिक सन्दर्भ में अनुस्यूत कर दिया है। सपाट, शुष्क बौद्धिक विश्लेषण के स्थान पर उन्होंने अपने नाटकों में भावप्रवणता, कल्पना की रमणीयता, काव्यात्मक भाषा का संयोजन किया है। इनमें भी जिन्हें लगा है कि उनका कथ्य और अधिक सूक्ष्म एवं लचीले माध्यम की माँग

करता है उन्होंने काव्यनाटक लिखे। पुराणप्रिय रसात्मक, भारतीय साहित्य-परम्परा इन नाटकों के पक्ष में जाती थी, यह आकस्मिक नहीं है कि इस काल की तीनों सर्वाधिक चर्चित, अभिनीत एवं अधिमान्य नाट्य-कृतियाँ—'कोणार्क', 'अन्धायुग' एवं 'आषाढ का एक दिन' इसी धारा की हैं। लक्ष्मीनारायण मिश्र, सेठ गोविन्ददास, उपेन्द्र नाथ 'अश्क' और लक्ष्मीनारायण लाल के सामाजिक यथार्थ पर आधारित नाटकों को भारतीय साहित्यिक परम्परा में पगे हुए भारतीय जातीय मानस का प्रच्छन्न विरोध झेलना पड़ा है जबकि भारतेन्दु, प्रसाद, प्रेमी, भट्ट आदि को उसका प्रत्यक्ष एवं जगदीशचन्द्र माथुर, भारती तथा राकेश को उसका परोक्ष सम्बल प्राप्त है। हम यहाँ स्पष्ट कर देना चाहते हैं कि इसका यह अर्थ नहीं कि हिन्दी या भारतीय भाषाओं में समर्थ सामाजिक यथार्थवादी नाटक लिखे ही नहीं जा सकते। यदि समसामयिक जीवन पर आधारित प्रथम श्रेणी के कथा-साहित्य की रचना हो सकती है तो नाटकों की भी हो सकती है, किन्तु उसके लिए अधिक शक्तिशाली, सर्जनात्मक प्रतिभा की अपेक्षा होगी, जो नये संस्कार दे सके।

यह भी नहीं समझना चाहिए कि इतिहास पुराण का परिवेश ले लेने मात्र से ये कृतियाँ प्रसाद युग की ऐतिहासिक-पौराणिक नाट्य-कृतियों की परम्पराभुक्त हैं। वस्तुतः इस विश्वास के अतिरिक्त कि नाटक की उत्कृष्टता के लिए भाव-प्रेरित स्थितियों और चरित्रों की योजना तथा प्रतीकों एवं बिम्बों से समृद्ध भाषा का प्रयोग वांछनीय है, दृष्टि, निष्कर्ष, शिल्प आदि में प्रसादकालीन नाटकों से इनकी और कोई समता लक्षित नहीं होती। प्रसाद भारतीय इतिहास के अप्रकाशित अंश में से उन प्रकाण्ड घटनाओं का दिग्दर्शन कराना चाहते थे जिनसे प्रेरणा ग्रहण कर हम अपना पुनरुत्थान कर सकते थे। उनसे वे घटनाएँ, वे चरित्र सर्वोपरि निष्ठा की माँग करते थे। समसामयिक जीवन के प्रश्न उनसे विच्छुरित प्रकाश-किरणों के आलोक में हल किए जा सकते हैं, यह भी उनका विश्वास था और एक सीमा के भीतर उन्होंने प्रयास भी किया था कि उनसे प्राप्त प्रेरणा से वे हल हों किन्तु इसके लिए वे उन घटनाओं को न तो बदल सकते थे, न चरित्रों को उनके परम्परागत रूप से अन्यथा आँक सकते थे। यह निष्ठा इस सीमा तक थी कि अपने समय में स्वीकृत ऐतिहासिक तथ्यों के प्रतिकूल जाने पर उन्होंने अपने एक नाटक 'यशोधर्म देव' को नष्ट कर दिया था। यह बात भिन्न है कि नवाविष्कृत ऐतिहासिक तथ्यों के कारण उनके कुछ नाटकों की घटनाओं की ऐतिहासिकता संदिग्ध हो जाती है।

किन्तु इन नए नाटककारों के लिए इतिहास उपकरण मात्र है जिसका उपयोग वे अपने कथ्य को अधिक परिस्फुट एवं प्रभावशाली बनाने के लिए करते हैं। उनकी मूल निष्ठा अपने कथ्य के प्रति है, ऐतिहासिक घटनाओं या चरित्रों के प्रति नहीं; अपने कथ्य के अनुरूप घटनाओं की सृष्टि या प्राचीन चरित्रों को बिलकुल आधुनिक प्रवृत्तियों के प्रतीक के रूप में प्रस्तुत करने में उनको हिचक नहीं होती। यह दृष्टि उचित है कि नहीं, इस पर विवाद हो सकता है, किन्तु इसके चलते सृष्टि को तो अस्वीकारा नहीं जा सकता।

स्वाधीनता के बाद लिखित लक्ष्मीनारायण मिश्र या डॉ० रामकुमार वर्मा के ऐतिहासिक नाटक जहाँ किसी प्राचीन भारतीय विचार या चरित्र को समाधान या आदर्श के रूप में उपस्थित करते हैं वहाँ ये नए नाटक गहरे अन्तर्द्वंद्व, उलझाव और भटकाव में से सत्य को तलाशते-से प्रतीत होते हैं। कोई बना-बनाया समाधान ये नहीं देते बल्कि कुछ प्रश्न-चिह्न लगाते हैं। सम्भावित सत्य की ओर अग्रसर होने के लिए इनके चरित्र जो कदम उठाते हैं, उनसे सहमत होना हर समय सम्भव नहीं होता क्योंकि ये वैयक्तिक निर्णय हैं, जो सामाजिक स्वीकृति या समर्थन से निरपेक्ष होकर किये गए हैं, अतः विवादास्पद होने के लिए बाध्य हैं। फिर भी ये नाटक महत्त्वपूर्ण हैं क्योंकि अपने समय की प्रबल आकांक्षाओं को व्यक्त करने का, गहरी शंकाओं या चुनौतियों से जूझने का सर्जनात्मक प्रयास इनमें स्पष्ट परिलक्षित होता है।

इन नाटककारों ने लोकग्राह्यता की तुलना में विशिष्टता को अधिक महत्त्व दिया है। इनके कथावस्तु-संयोजन, चरित्रांकन, संवाद सभी में सामान्यातिरिक्तता झलकती है। नाटक में यथार्थ का भ्रम उत्पन्न करने की परिपाटी को वे त्याग चुके हैं क्योंकि प्रभाव-सृष्टि की दृष्टि से उसकी दुर्बलता और फिल्म की तुलना में अपूर्णता प्रमाणित हो चुकी है। उनकी आस्था प्रतीकात्मक प्रस्तुतीकरण पर है जिसमें सांकेतिक कल्पनाशीलता के साथ-ही-साथ संगीत, आलोक-सम्पात आदि पार्श्व-प्रभावों का कलात्मक संयोजन किया जाता है।

इस धारा की पहली प्रभावशाली कृति जगदीशचन्द्र माथुर के 'कोणार्क' में 'कलाकार के शाश्वत अन्तर्दहन' को

सामाजिक दायित्व-बोध से युक्त कर प्रस्तुत किया गया है। यह समकालीन प्रगतिवाद की प्रतिध्वनि मात्र भले ही न हो किन्तु १९५१ में प्रकाशित इस नाटक पर १९३६-३७ से चले आने वाले इस विचार-मंथन का गहरा और स्पष्ट प्रभाव है कि साहित्यकार किसके लिए लिखे—कस्मै देवाय हविषा-विधेम—सौन्दर्य-सृजन के सम्मोहन में भूले हुए कलाकार को जीवन के संघर्ष और सत्ता के अत्याचारों के प्रति सजग करना, अपनी कलासृष्टि को पराजय का प्रतीक न बनने देने की उसे प्रेरणा देना और चरम प्रतिकार के लिए सन्नद्ध करना ही नाटककार का उद्देश्य है, जिसकी पूर्ति उसने अल्प-मात्रा में ही इतिहास का सहारा लेकर 'कोणार्क' के बनने और टूटने के अपने कल्पित क्रम के माध्यम से इस 'अद्भुत सुथरी सन्तुलित कलाकृति' के द्वारा की है। विध्वस्त 'कोर्णाक' कलाकार का बदला है, यह भावुक कल्पना युग की एक विशिष्ट आकांक्षा को तृप्त करने के कारण ही इतनी लोक-प्रिय हो सकी। एक ही केन्द्रीय विचार के चारों ओर बुनी हुई कथा, विशु और धर्मपद की जीवन्त चरित्र सृष्टियाँ, परिस्थितिजन्य द्वन्द्व का चरम तक प्रभविष्णु निर्वाह, काव्यात्मक संवाद, इन गुणों ने कोणार्क का गौरव और बढ़ा दिया है। किन्तु युग के बदले हुए आज के मिज़ाज से इसकी भी अतिरंजनाएँ उतनी प्रभावशालिनी नहीं लगतीं।

माथुरजी की दूसरी कृति 'शारदीया' कोणार्क की तुलना में दुर्बल है। इसमें असफल एकनिष्ठ प्रेम की करुणा को उभारने का प्रयास किया गया है जो बहुत सफल नहीं हो सका है। 'शारदीया' की दुर्बलता के कई कारण हैं। एक तो देवदास की मनोवृत्ति आज की वास्तविकता के प्रतिकूल पड़ती है, दूसरे इसमें हिन्दू-मुस्लिम एकता, सामन्तवादी व्यवस्था की दुर्बलता आदि का चित्रण करने के लिए अवान्तर घटनाओं का इतना विस्तार किया गया है कि मूल भाव उनसे आच्छन्न-सा हो गया है, तीसरे इसमें न तो युग की किसी नयी बड़ी चुनौती की स्वीकृति है न किसी पुरानी समस्या का ही तलस्पर्शी विश्लेषण।

धर्मवीर भारती का 'अन्धा युग' सशक्त नाट्य-कृति है जिसमें समसामयिक जीवन की विभीषिका महाभारतोत्तर पट भूमिका में चित्रित है। १९५४ में रचित इस काव्य नाटक की प्रेरणा केवल भारतीय परिवेश से नहीं, अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियों से भी, बल्कि मुख्यतः उन्हीं से आई है। दो-दो विश्वयुद्धों को निष्पेषणकारी यातना, तीसरे सर्वनाशी युद्ध की प्राणशोषी आशंका, व्यक्तिगत, दलगत एवं राष्ट्रगत स्वार्थों के लिए सिद्धान्तों की निर्लज्ज प्रवंचना, सामाजिक मूल्यों के विघटन से उत्पन्न जीवन की मर्यादाहीन स्थिति, संशय, ग्लानि, व्यर्थताबोध आदि का उत्कट संवेदन विश्व-चेतना के स्तर पर कर, उसे सर्वविदित भारतीय पौराणिक सन्दर्भ से युक्त कर सामान्य प्रबुद्ध हिन्दी पाठक को दृश्य-काव्य के माध्यम से उसकी तीखी अनुभूति करा पाना निश्चय ही एक बड़ी उपलब्धि है। और फिर इस तिमिराच्छन्न स्थिति में भी जब विजय तिल-तिलकर फलीभूत होने वाले आत्मघात का पर्याय लगती हो (युधिष्ठिर) अमानुषिक अर्धसत्य घृणा का तर्क ले पशुओं के स्तर पर उतर गया हो (अश्वत्थामा), प्रवंचित आस्था आत्मघाती हो गई हो (युयुत्सु), निरपेक्ष सत्य निष्क्रिय रहकर अपने अस्तित्व का अर्थ खोता जाता हो (संजय), तब भी मन में बीज-रूप में स्थित साहस, स्वतन्त्रता नूतन सर्जन के तत्त्व (श्रीकृष्ण) पर आस्था रखना वस्तुतः अन्धों के माध्यम से उस ज्योति की कथा प्रस्तुत करना ही है जो अन्ततोगत्वा व्यक्ति के विवेक से ही प्राप्य है। अपनी कुछ सीमाओं के बावजूद 'अन्धा युग' निस्सन्देह हिन्दी का श्रेण्य ग्रन्थ है। एक क्षयिष्णु समाज की ह्रासोन्मुख संस्कृति के आभ्यन्तर यथार्थ को कुशलतापूर्वक अंकित किया गया है अन्धायुग में।

दुष्यन्त कुमार का 'एक कंठ विषपायी' इसी धारा का एक अन्य उल्लेख्य काव्य नाटक है जिसमें 'जर्जर रूढियों और परम्परा के शव से चिपटे' लोगों के मोह और मोह-मुक्ति की मनःस्थिति का चित्रण शिव-सती की गाथा के माध्यम से किया गया है, किन्तु कई स्थलों पर मर्मस्पर्शी होकर भी अपने समग्र रूप में यह प्रत्यायक (कन्विन्सिंग) नहीं हो पाया है, विशेपनः विष्णु के प्रणाम बाण छोड़ते ही शंकर का क्रोध शान्त हो जाना, सम्भावित युद्ध एवं रक्तपात का थम जाना एक चमत्कार-सा लगता है जो न दृश्य काव्य में, न वर्तमान सन्दर्भ में ही किसी विश्वसनीय महत्त्वपूर्ण अर्थ का द्योतन करता है। इस दुर्बल अन्त के अतिरिक्त पीड़ित-प्रवंचित प्रजा के प्रतीक सर्वहुत तथा राजसत्ता के लोलुप इन्द्र, वरुण आदि के चरित्र मूल कथ्य को प्रभावपूर्ण बनाने के स्थान पर क्षीण बनाते हैं।

मृत्यु के साक्षात्कार द्वारा मृत्यु के भय का अतिक्रमण

करना तथा दर्पस्फीति अहं की कारा से मुक्त हो विराट् को समर्पित होने की साधना अज्ञेय के लेखन के दो प्रमुख प्रेरणा-स्रोत रहे हैं। अपने गीतिनाट्य 'उत्तर प्रियदर्शी' में अशोक-सम्बन्धी कुछ पुराकथाओं के आधार पर उन्होंने व्यक्ति के स्फीति अहं से निर्मित नरक···उसके अन्तःस्थ नरक में उसी के फँसने, ऐंठन, टूटन, तड़पन की मरण-यातना को सहने और फिर पारमिता करुणा के सहारे उससे मुक्त होने की गाथा प्रस्तुत की है। इस प्रकार इसमें उन्होंने इन दोनों बोधों को समन्वित कर दिया है। इस नाटक का स्वर 'शुद्ध नाट्य-धर्मी' है। वस्तुगत यथार्थ या स्थूल उत्तेजनापूर्ण घटनाओं के प्रत्याशी इसे पढ़कर या देखकर निराश ही होंगे। किन्तु प्रस्तुत कृति से इसकी अपेक्षा ही अन्याय है। इसकी सूक्ष्म सांकेतिकता और सहज विलम्बित गति के लिए अज्ञेय जापानी नाट्यकार नोऽ के अंशतः ऋणी हैं।

इस नाटक के अशोक की तरह ही आज का व्यक्ति भी एक ही साथ एक तरफ तो जन-जन से अनातंकित, उदार, उजला दुलार चाहता है और दूसरी तरफ अपने प्रेत शत्रुओं को शमित कर कड़ी यंत्रणा, नरकयातना देना चाहता है···यथा-सम्भव देता भी है। परिणामतः स्वयं नरक की कालजिह्व ज्वालाओं में झुलसता रहता है। उसकी मुक्ति उसीके अन्तर से निःसृत करुणा द्वारा ही सम्भव है, उसीको जगाने का निर्देश भिक्षु के माध्यम से नाट्यकार देता है। आज के सन्दर्भ में यह समाधान अत्यन्त सरलीकृत और उपदेशात्मक-सा प्रतीत होता है और यही इस नाटक की सबसे बड़ी कमज़ोरी है। आज का व्यक्ति अपनी अन्तःस्थ करुणा को जगाकर यदि भीतरी नरक से मुक्ति पा भी ले तो भी बाहरी नरक का क्या होगा, जिस पर उसका कोई अधिकार ही नहीं है। नहीं, आधुनिक व्यक्ति को इतनी सरलता से मुक्ति नहीं मिल सकती।

मोहन राकेश के 'आषाढ का एक दिन' का कालिदास व्यक्ति न होकर 'सृजनात्मक शक्तियों का प्रतीक है'। नाटककार की चेष्टा है कि उसका चरित्र किसी भी काल में सृजनशील प्रतिभा को आन्दोलित करने वाले अन्तर्द्वन्द्व को संकेतित करे। ऐसा लगता है कि इस नाटक की मुख्य समस्या कलाकार की अन्तरंग प्रतिबद्धता की समस्या है। उसका अन्तर्द्वन्द्व यह निश्चय न कर पाने के कारण है कि कलाकार की सर्वोपरि प्रतिबद्धता किसके प्रति है, अपनी कला के प्रति, प्रेयसी के प्रति या राज्य के दायित्व के प्रति? नाटककार ने दिखाया है कि प्रेम कलाकार की आन्तरिक क्षमता का विकास करता है और राज्याश्रय से उसे प्रतिष्ठा प्राप्त होती है, किन्तु अपने आधार से कटकर राज्याधिकार ग्रहण करने पर कलाकार भीतर-भीतर टूटता और रीतता जाता है। राज्याधिकार से लिप्त होना कलाकार के लिए घातक है, यह निष्कर्ष स्पष्ट है, किन्तु कला और प्रेम के प्रति दायित्व-निर्वाह के द्वन्द्व को प्रथम अंक में संकेतित-भर कर अन्त तक अमीमांसित छोड़ दिया गया है। प्रेम के प्रति समर्पण के भावुकतापूर्ण अन्तर्निहित संकेतों के बावजूद इस नाटक के कालिदास के आचरणों से उसका जैसा सुविधावादी एवं स्वार्थपर रूप उभरता है उसे कलाकार के लिए आदर्श मानना तो दूर की बात है, उचित मानना भी अस्वीकार्य है। बड़े कलाकारों में भी दुर्बलताएँ हो सकती हैं, किन्तु किसी भी क्षेत्र में वस्तुतः बड़ा होने के लिए अनिवार्य है कि व्यक्ति मूलतः अच्छा हो। कालिदास के नाम पर किसी क्षुद्र कला-कार का चरित्र चला देना और उसे 'मानवीय धरातल पर रहकर भी जीवन में कुछ महान् किया जा सकता है' कहना विवेचकों को कैसे मान्य हो सकता है? इसी तरह मल्लिका को कालिदास की प्रेयसी और प्रेरणा से आगे जाकर आस्था मानना समझ में न आने वाली बात है। और यह भी कि बार-बार प्रवंचित होकर भी उसके मन में आक्रोश क्यों नहीं जागता, वह मानवी से अधिक देवी या यों कहिए मूर्तिमती समर्पण-सी लगती है। वस्तुतः इस नाटक की लोकप्रियता के मूल में मल्लिका के उत्सर्गपूर्ण चरित्र का सम्मोहन है, इसकी रोमानी प्रवृत्ति है, इसकी आकर्षक शैली है, इसकी बौद्धिक मीमांसा नहीं।

'लहरों के राजहंस' में प्रवृत्ति (सुन्दरी) एवं निवृत्ति (बुद्ध) या पार्थिव एवं अपार्थिव मूल्यों के प्रति युगपत् रूप से आकृष्ट आधुनिक मनुष्य (नन्द) के अन्तर्द्वन्द्व का चित्रण है। ऐतिहासिक तथ्य की माँग के कारण इस नाटक का नन्द अन्त में सुन्दरी के क्षोभ का गलत अर्थ लगाकर उसको त्याग-कर बुद्ध के पास चला जाता है किन्तु उसका अन्तःकरण तब भी दुविधाग्रस्त है जिसका अर्थ यही है कि अन्त तक वह अपनी दोनों आन्तरिक आवश्यकताओं, इन दोनों मूल्यों में से किसी एक को दूसरे से पूर्णतः निरपेक्ष होकर ग्रहण नहीं कर पाता। इसी के साथ-साथ स्त्री-पुरुष की आधारभूत प्रवृत्तियों

के सम्बन्ध में नाटककार का संकेत यह प्रतीत होता है कि स्त्री पुरुष को अपने से, पार्थिव मूल्यों से सर्वथा बाँध रखना चाहती है जबकि पुरुष अंशतः उस बन्धन को स्पृहणीय समझकर भी अपनी चरितार्थता के लिए अपार्थिव मूल्यों का संधान करता रहता है। इसे आत्यन्तिक सत्य के रूप में स्वीकार करना कठिन है। 'आषाढ का एक दिन' की तुलना में 'लहरों के राजहंस' की प्रतीक योजना अधिक जटिल, घटना-प्रवाह अधिक क्षिप्र और अन्तर्द्वन्द्व अधिक गहरा है। 'आषाढ का एक दिन' के समान लोकप्रिय न होने पर भी यह कृति सम्भवतः उससे अधिक गौरव की अधिकारिणी है।

व्यक्ति के आभ्यन्तर यथार्थ को समसामयिक जीवन के सन्दर्भ में सफलतापूर्वक अंकित करना अपेक्षाकृत रूप से सरल लगने पर भी वस्तुतः अधिक कठिन है। इसमें सामाजिक जीवन के विश्वसनीय परिवेश के भीतर ही उसके दबावों के कारण व्यक्ति के मानसिक तनावों, ऊहापोहों आकांक्षाओं, पावन संकल्पों, कुंठाओं, विकृतियों को अंकित करना पड़ता है। अपने प्रयोजन के अनुरूप अर्ध-कल्पित ऐतिहासिक परिवेश में संकेतात्मक समकालीनता की अनुभूति कराने की सुविधा यहाँ नहीं रहती। यह ठीक है कि नवीनतम प्रवृत्ति परिवेश की बाह्य विश्वसनीयता की ओर अधिक ध्यान नहीं देती, उसके प्रभाव को अमूर्त चित्रकला की शैली में झलकाना चाहती है। किन्तु अभी हिन्दी नाटक के क्षेत्र में इसका सूत्रपात भर हुआ है, अतः इस पर इस स्थिति में कोई निर्णय नहीं दिया जा सकता।

इस क्षेत्र में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण नाम श्री लक्ष्मीनारायण लाल का है। रंगमंच के प्रति उनकी गहरी आस्था एक ओर तो उनके कर्मठ नाट्य प्रयोक्ता के रूप में प्रकट हुई है, दूसरी ओर उर्वर नाट्यकार के रूप में। अन्धा कुआँ (१९५६) से दर्पन (१९६४) तक उनके नौ पूर्णकालिक नाटक प्रकाशित हो चुके हैं जिनमें विषयवस्तु-चयन, शिल्प-शैली आदि की इतनी विभिन्नता है कि लगता है नाटककार के लिए प्रयोग बहुत बड़ा मूल्य है या यह भी सम्भव है कि वह अभी तक अपनी शैली की तलाश में ही है। इन दोनों ही स्थितियों में ये संकेत तो निहित हैं ही कि ये कृतियाँ सिद्धि की पूर्व प्रस्तुति मात्र हैं तथा अपनी विशिष्ट शैली को खोज लेने के बाद नाटककार उसमें अपनी और उत्कृष्ट कृतियाँ दे सकेगा। श्री लाल की विविधता का आभास इसी से मिलता है कि उन्होंने यथार्थवादी शैली में ग्राम जीवन का चित्रण (अंधा कुआँ), लोक-नाट्य शैली में लोक-कथा का नाट्य रूपान्तर (नाटक तोता मैना), प्रतीकात्मक गीत-नाट्य शैली में भाव-सत्य का निरूपण (सूखा सरोवर), सामाजिक विकृतियों पर मृदुल व्यंग्य (सुन्दर रस), बाह्य सामाजिक समस्याओं का दिग्दर्शन (रक्त कमल) तथा व्यक्ति के आभ्यन्तर यथार्थ का उद्घाटन (मादा कैक्टस, रात रानी, दर्पन आदि) करने का प्रयास किया है। उन्हें सर्वाधिक सफलता व्यक्ति के आभ्यंतर यथार्थ के उद्घाटन में मिली है और मादा कैक्टस तथा दर्पन निश्चय ही दो श्रेष्ठ नाट्य-कृतियाँ हैं। जीवन के, विशेषतः यौन नैतिकता के बदलते हुए मूल्यों को रेखांकित करने का प्रयास है मादा कैक्टस। नर-नारी की निविड़ निकटता विवाह के कवच में ही मर्यादित और सुरक्षित है या बन्धुत्व के मुक्त साहचर्य द्वारा आनन्द और प्रेरणा के आदान-प्रदान में सार्थक तथा साफल्य मण्डित? और जब परम्परा (सुजाता) बहरी हो जाये तथा प्रगति (आनन्दा) क्षयग्रस्त, तब क्या हो? कहीं ऐसा तो नहीं है कि आधुनिक संस्कार (अरविन्द) जिसे सबसे ज्यादा महत्त्व देते हैं अनजाने उसी मूल्य का खून कर डालते हैं? इस नाटक में नाटककार ने प्रश्न ही बिखेरे हैं, संभवतः इस आशा से कि उत्तर के अंकुर जीवन की धरती से ही उगेंगे। अपने वास्तविक स्वरूप की तलाश करने की आकुल चेष्टा, परस्पर-विरोधी मूल्यों के युगपत् आकर्षण के कारण निर्णय न कर पाने की यातना और अन्त में व्यक्तिगत सुखोपभोग के ऊपर सामाजिक मंगल के लिए आत्मोत्सर्ग की प्रतिष्ठा का मर्मस्पर्शी अंकन 'दर्पन' में किया गया है। लक्ष्मीनारायण लाल के नाटकों में भारतीय संस्कृति और आधुनिकता का समन्वय करने की सन्तुलित चेष्टा झलकती है जो सर्वथा समर्थनीय है, किन्तु कुल मिलाकर ऐसा लगता है कि उनमें जितना उत्साह है, उतनी सामर्थ्य नहीं, जितनी प्रयोगशीलता है, उतनी उपलब्धि नहीं, जितनी उर्वरता है उतनी उत्कृष्टता नहीं।

ग्राम सुधार एवं देश-रक्षा-सम्बन्धी कई नाटक लिखने के बाद श्री ज्ञानदेव अग्निहोत्री ने अपनी नवीनतम कृति 'शुतुर्मुर्ग' में वर्तमान राजनीतिक दुरवस्था पर शक्तिशाली व्यंग्य किया है। दिल्ली को शुतुरनगरी में परिवर्तित कर देने के कारण वे अन्योक्ति पद्धति की सहायता से वर्तमान की वस्तुनिष्ठता से बचकर वर्तमान की विरूपता को, दिल्लीश्वर के शुतुरमुर्ग सदृश आचरण की ओट में छिपी उसकी दुर्बलता,

धूर्तता, प्रवंचकता को और उन सबकी व्यर्थता को परिहास-परक शैली द्वारा उजागर करने में बहुत दूर तक सफल हुए हैं। अनामिका में अपने अभिकल्पित नाट्य-प्रयोग द्वारा इसकी अन्तर्निहित क्षमता का अच्छा उद्घाटन किया है। यह ठीक है कि इस नाटक के संकेत बहुत-कुछ स्थूल हैं और कथा अपेक्षाकृत रूप से छिछली, तथापि यह श्री अग्निहोत्री के विकसित नाटककार का निश्चित प्रमाण है।

श्री ललित सहगल कृत 'हत्या एक आकार की' महात्मा गांधी (इस नाटक में वह के द्वारा संकेतित) के हत्यारे के अन्तर्द्वन्द्व को मूर्त करने वाला प्रभविष्णु नाटक है। 'उसकी' और 'उसके' कई विगत कार्यों की महत्ता को स्वीकारते हुए भी, 'उसकी' कुछ पिछली और वर्तमान कार्यवाही को देश-हितविरोधी मानने के कारण बिना किसी व्यक्तिगत शत्रुता के एक छोटे-से दल के सदस्य 'उसकी' हत्या की कूट योजना बनाते हैं। सहसा उन्हीं में से एक इस निर्णय के औचित्य के प्रति शंकालु हो उठता है, और अपने उस सदस्य की शंका का निराकरण करने के लिए दल 'उस' पर मुकदमा चलाकर 'उसे' अपराधी प्रमाणित करना चाहता है ताकि 'उसकी' हत्या का नैतिक आधार प्राप्त हो सके। वह शंकालु सदस्य 'उसका' वकील बनकर 'उस' पर लगाये अभियोगों का खण्डन करता है, उस विरोधी सदस्य की दलीलों को प्रबल पड़ता देख उस दल के लोग अपने उस सदस्य का गला घोंटकर 'उसकी' हत्या कर देते हैं।

यह पूरा मुकदमा आन्तरिक वृत्तियों के अन्तःसंघर्ष की बाह्य अभिव्यक्ति है। वस्तुतः वह विरोधी युवक उस हत्यारे का अपना विवेक ही है, वह न्यायाधीश, वह इतिहासकार उसके अपने न्याय एवं तथ्यपरक औचित्य के बोध के प्रतिरूप मात्र हैं और वह वादी वकील है उसका अपना हठाग्रह, मतान्ध संकीर्ण विश्वास।

नाटककार और अभियान (नाट्यप्रयोक्ता दल) इसके लिए बधाई के पात्र हैं कि उन्होंने इस कृति को वृत्तनाटक की प्रामाणिकता के बावजूद प्रचारात्मक होने से बचा लिया है। 'उसके' विरुद्ध जो कुछ कहा जा सकता था, उसे पूरे पैनेपन के साथ कहा गया है और 'उसकी' हत्या की योजना के पीछे के क्षोभ को सही-सही ढंग से रखकर भी उस पूरे चिन्तन की विसंगति, विकृति और घृणित परिणति को कलात्मक स्तर पर दरसाया गया है। निश्चय ही हम ललित सहगल से भविष्य में ऐसे बहुत-कुछ की आशा रख सकते हैं, जिससे हिन्दी का नाटक साहित्य गौरवान्वित होगा।

साहित्य के अन्य क्षेत्रों में ख्यातिप्राप्त नरेश मेहता, लक्ष्मीकान्त वर्मा, कमलेश्वर, मन्नू भंडारी, सत्येन्द्र शरत् आदि ने नाटक के क्षेत्र में भी कुछ प्रयोग किये हैं। अपने संस्कारों और विश्वासों के कारण नाटक के माध्यम से भी इन्होंने व्यक्ति के अन्तर की विविध परतों को उधेड़कर उसके वास्तविक रूप को प्रस्तुत करना चाहा है। नरेश मेहता कृत 'खंडित यात्राएँ' और मन्नू भंडारी कृत 'बिना दीवारों के घर' अपनी सीमाओं के बावजूद मर्मस्पर्शी हैं। लक्ष्मीकान्त वर्मा ने कथाहीन नाटक 'अपना-अपना जूता' (१९६४) लिखकर एक नया प्रयोग किया तो आलोक शर्मा ने एक कदम और आगे जाकर केवल कथाहीन ही नहीं संवादहीन नाटक 'चेहरों का जंगल' (१९६७) की रचना की। हमारी जानकारी में भारतीय साहित्य में सम्भवतः यह पहला ही संवादहीन नाटक है जिसमें महानगर के 'चेहरों के जंगल' में भटकते हुए समाज से अलग पड़ जाने के कारण अकेलेपन की यंत्रणा भोगते व्यक्ति की रोज़मर्रा की ऊबभरी अर्थहीन ज़िन्दगी और मानसिक शान्ति की बेचैन तलाश को केवल मूक अभिनय के द्वारा अभिव्यक्त करने की चेष्टा की गई है।

इसी प्रकार काशीनाथ सिंह का नाटक 'घोआस' (१९६७) आज के भयाक्रान्त, अर्थहीन जीवन के अन्तरंग को चित्रित करने का प्रयास है, जिसमें उसकी बाहरी हलचल, विधि-व्यवस्था को अग्राह्य कर उसके प्रभाव परिणाम को झलकाने की चेष्टा की गई है। पासी, घीसा, मास्सा, फूजी, नाजी आदि कुछ अत्यन्त ऊबे हुए, विवश-से भयाक्रान्त लोग हैं, जो कुछ भी सर्जनात्मक कार्य करने में असमर्थ हैं क्योंकि 'कोई' है जो सर्वत्र है या हो सकता है जो हत्या भी करता है, और जिसकी उपस्थिति उन्हें असह्य है किन्तु वह मिलता ही नहीं, कैसे उससे युद्ध किया जाय, कैसे हत्या का बदला लिया जाय! कुछ लोग फिर भी उसकी तलाश में लगे रहते हैं किन्तु एक (पासी) उस किसी का प्रतिरोध करने में भी अपने को असमर्थ पाता है और उसकी वृथा तलाश में चरमन की छत पर जाने से बेहतर मानता है, नफरत से भरकर यों ही पड़े रहना। शायद यही परिणति है आज के बुद्धिजीवियों की भी!

मुद्राराक्षस के नाटक 'मरजीवा' और 'योर्स फेथफुली'

स्वयं उनके शब्दों में 'बेहूद, क्रूड ढंग की हिंसात्मक कृतियाँ' हैं। दुर्भाग्य से ये अभी तक अमुद्रित हैं, अतः इन्हें हम देख नहीं पाए और मुद्राजी नहीं चाहते कि 'छद्म नाटकों' पर लिखे पंचमेल लेख में उनकी चर्चा की जाए। क्योंकि उनके अनुसार "हिन्दी तो परम्परा है कविता कहानीनुमा नाटकों की ही चर्चा की। मंच से ही जनमे और व्यवस्था-विरोधी कड़वे नाटकों के जिक्र का सवाल क्यों उठे ?"

स्पष्ट है कि १९६० के बाद नाटक-लेखन के क्षेत्र में भी ऐसे स्वर उठ रहे हैं जो कथ्य और शैली दोनों ही दृष्टियों से नये नाटकों के एक और नये मोड़ के सूचक हैं। ये नये प्रयोग हिन्दी रंगमंच पर कैसे उतरेंगे, यह बिना वास्तविक मंचन के कैसे कहा जाए, किन्तु आशंका यही है कि इनसे दर्शकों की माँग और नव्यतम प्रवृत्ति के बीच का गहरा विच्छेद ही मूर्त हो उठेगा। समसामयिक साहित्य के अन्य क्षेत्रों में भी सामान्य पाठकों और कृतिकारों के बीच जो दूरी बढ़ती जा रही है, उसका समर्थन करना कठिन है। फिर भी कवियों, कथाकारों की, विशेषतः कवियों की स्थिति ऐसी है कि वे अधिक स्वतंत्रता बरत सकते हैं, किन्तु नाटककार को अपने साथ दर्शकों को लेकर चलना ही होगा अन्यथा पाठ्यक्रमीय न सही, अवास्तविक नाट्य-कृतियाँ ही रूप ग्रहण करेंगी। अन्तर्राष्ट्रीय नाट्य-साहित्य के स्तर पर पहुँच जाने की झोंक में प्रयोगातिशयता को ही चरम मूल्य मान बैठने वाले नाटककारों को यह स्मरण रखना चाहिए कि यदि वे पुस्तकालयों की शोभा बढ़ाने के लिए ही नाटक नहीं लिखना चाहते तो अपने रंगमंच, अपने दर्शक समाज और अपनी नाट्य-परम्परा के सन्दर्भ में ही उनके प्रयोग सार्थक हो सकेंगे।

यह हम मानते हैं कि यदि समकालीन लोकरुचि एवं रंगमंच को ही दृष्टिगत रखकर नाटक लिखे जाते तो न तो उनका संस्कार ही सम्भव होता न उत्कृष्ट नाटकों का सृजन ही। निश्चय ही श्रेष्ठ नाटककार की प्रतिभा समकालीन स्तर को और ऊपर उठने की चुनौती देगी, किन्तु यह स्मरण रखना चाहिए कि उन्नयन आन्तरिक क्षमताओं के अनुरूप ही हो सकता है। पुरानी रूढ़ियों और सस्ती लोकरुचि के अंकुश को स्वीकार करना जितना घातक है, बाहर की चमक-दमक का सस्ता और कच्चा-पक्का अनुकरण उससे भी अधिक घातक है। जो इन दोनों से मुक्ति पाकर भारतीय नाट्य-परम्परा की गहराइयों में उतरकर उसके जीवन्त तत्त्वों के साथ अपने परिवेश में स्वीकार्य आधुनिकतम उपलब्धियों का मणिकांचन संयोग कर सकेगा वही भावी हिन्दी नाटक को सही दिशा दे सकेगा। ●

मूल्यांकन

कविता और राजनीति का तनाव

नेमिचन्द्र जैन

हर सार्थक कविता हमारी रोज़मर्रा की दुनिया के जाने-पहचाने उपकरणों की सहायता से एक ऐसे संसार की रचना करती है जो किसी-न-किसी ढंग से किसी-न-किसी सतह पर उस परिचित दुनिया की हमारी पहचान को गहरा या विस्तृत, तीखा या नया कर सके। इस नई पहचान से कभी तो हमें अचरज होता है, कभी खीझ या चिढ़ होती है, कभी कुछ परिपूर्णता का अनुभव होता है, कभी अपने ऊपर तरस आता है, या कभी-कभी ऐसा भी होता है कि इस पहचान के कारण ही रोज़मर्रा की इस परिचित दुनिया में हम अकेले हो जाते हैं, उससे और अपने-आप तक से अजनबी हो उठते हैं। इसके अलावा और भी कई प्रकार से कविता हमें अपने संसार से जोड़ सकती है या अलग कर सकती है। मगर यह सब उसी हद तक होता है जिस हद तक स्वयं कवि का रोज़मर्रा की दुनिया से लगाव या उलझाव सच्चा और गहरा रहा हो और वह उस पहचानी हुई दुनिया के जीवन्त, प्रासंगिक और मूल्यवान अनुभव को लेकर अपने नये संसार की रचना कर सका हो। अपना संसार रचने की इस प्रक्रिया में कवि कई बार भटक भी जाता है या अप्रासंगिक और निरी भड़कीली बातें या उपकरण उसे उलझा लेते हैं। या वह 'अपना', केवल अपना, संसार रचने के प्रयास में रोज़मर्रा की दुनिया से इतनी दूर चला जाता है कि उस दुनिया से उसका कोई सम्बन्ध ही नहीं बचता और इस प्रकार उससे कविता का सम्बन्ध भी शिथिल हो जाता है। क्योंकि कवि के संसार का 'अपनापन' या तो उसकी रचना में लगे उपकरणों के विशेष चुनाव से, या उन्हें विशेष प्रकार से गूँथने और संयोजित करने से, या कवि की विशेष दृष्टि और मूल्यों के पैमाने के कारण ही पैदा हो सकता है। 'अपने अलग संसार' के नाम पर एक सर्वथा निजी, काल्पनिक, रोज़मर्रा की दुनिया से एकदम या प्रायः कटी हुई, कोई दुनिया रच डालने से नहीं।

पिछले दिनों हिन्दी का बहुत-सा काव्य-लेखन इसी 'अपने संसार' की, एक काल्पनिक 'अद्वितीयता' की तलाश में रोज़मर्रा की दुनिया से कटकर एक नये परीलोक (या पाताल लोक ?) में क़ैद होता गया है। अनोखेपन की इस मृगमरीचिका के पीछे भागने में ज़िन्दगी के अधिकांश प्रबल, गहरे और बुनियादी अनुभवों और आवेगों से, चारों ओर की जीवन्त धड़कती दुनिया से, उसका सम्बन्ध या तो अपने-आप टूट गया है, या उसे 'आम' समझकर कवि ने जान-बूझकर उससे अपने-आपको काट लिया है। 'निजी' या 'ख़ानगी' की इस तलाश का कुछ ऐसा आतंक और अत्याचार कवि के ऊपर रहा कि वह हर साझेदारी से, सामूहिक कार्य और उसमें उलझाव से—जैसे राजनीति से—कतराना और बचना अपने कवि-कर्म के लिए आवश्यक और अनिवार्य मानने लगा। उसने यह सिद्धान्त गढ़ लिया कि व्यापक सामाजिक उथल-पुथल में—राजनीतिक ज़िन्दगी जिसका एक महत्त्वपूर्ण और प्रमुख अंश है—हिस्सा लेना दूसरों का, और कुछ घटिया, काम है। इस हालत में यह अनिवार्य ही था कि इस कारण वह हर प्रकार के व्यापक और प्रबल सामूहिक अनुभव से अजनबी हो गया और अपने परिवेश के साथ उसका सम्बन्ध सहभागी का होने के बजाय बाहरी दर्शक, आलोचक या टिप्पणीकार का बनने लगा। तीखे व्यंग्य-विद्रूप तथा कुंठित आक्रोश की दिशाहीन, परिप्रेक्ष्यहीन और प्रायः संगतिहीन अभिव्यक्ति को छोड़कर, हिन्दी की कविता से राजनीतिक स्थितियों, कार्यों और सम्बन्धों का ही नहीं, प्रायः हर प्रकार के सामाजिक-सामूहिक सम्बन्धों और उनके जीवन्त बदलते स्वरूपों का भी निष्कासन-जैसा हो गया। इक्का-दुक्का अपवादों को छोड़कर समकालीन हिन्दी कविता एक अजीब तरह की आत्मरति, बचकानी प्रदर्शनप्रियता और क्लीवतापूर्ण झुंझलाहट से भर गयी।

इस परिप्रेक्ष्य में रघुवीर सहाय का नया कविता-संग्रह 'आत्महत्या के विरुद्ध' उमसभरे दमघोंट वातावरण में हवा के झोंके के समान है क्योंकि उसमें वैयक्तिकता इतनी 'खानगी' या 'प्राइवेट' नहीं, बल्कि सामान्य यथार्थ के साथ निजी साक्षात्कार से उत्पन्न होती है। 'आत्महत्या के विरुद्ध' में प्रस्तुत संसार कविता के सच्चे अर्थ में रोज़मर्रा की जानी-पहचानी दुनिया के हमारे अनुभव को कुछ अधिक गहरा और सार्थक बनाता है। इन कविताओं में सामाजिक-राजनीतिक स्थितियों, कार्यों, परिणतियों, दृष्टिकोणों, विचारों को प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से आधार बनाकर उनके भीतर से व्यक्ति, समुदाय और देश की—सम्भवतः पूरे युग की—आत्मा को पहचानने का प्रयास है। आज़ादी मिलने के बाद पिछले बीस वर्षों में हमारा देश और समाज कल्पनातीत आडंबर, ढोंग और झूठ से ढँक गया है, सर्वग्रासी स्वार्थलिप्सा, सहानुभूति-हीनता और उदासीनता ने समुदाय के हर अंश को, विशेषकर सत्ताधारी और सुविधाभोगी अंश को, दबोच लिया है।

महासंघ का मोटा अध्यक्ष
धरा हुआ गद्दी पर
खुजलाता है उपस्थ
सर नहीं
हर सवाल का उत्तर देने से पेश्तर
....

आँख मारकर पचीस बार हँसे वह, पचीस बार
हँसें बीस अखबार

एक नयी ही तरह की हँसी यह है (नयी हँसी)

इस क्रूर निर्मम हँसी के दौर में आम आदमी पिछले बीस वर्षों में लगातार कितना बेबस होता गया है :

बीस बरस बीत गये
लालसा मनुष्य की तिल तिल कर मिट गई
....

टूटते-टूटते जिस जगह आकर विश्वास हो जाएगा
बीस साल
धोखा दिया गया
वहीं मुझे फिर कहा जाएगा विश्वास करने को
पूछेगा संसद में भोला-भाला मंत्री
मामला बताओ हम कारंवाई करेंगे
हाय-हाय करता हुआ हाँ-हाँ करता हुआ हें-हें करता हुआ
दल का दल
पाप छिपा रखने के लिए एकजुट होगा
जितना बड़ा दल होगा उतना ही खाएगा देश को

सबसे बड़े नेता के बूढ़े हो जाते ही
लग लेगा पीछे एक कम बूढ़ा
जाने किस वक्त वह मर जाये जो ज्यादा बूढ़ा है।
(एक अधेड़ भारतीय आत्मा)

और केवल यह रोष और विद्रूप ही नहीं, वह परिव्याप्त सहज आत्मीयता और व्यक्तिगत पीड़ा भी जो इन कविताओं को अनन्य और अद्वितीय बनाती है। वे इस पाखंड और उससे उत्पन्न अनैतिकता तथा मानसिक गिरावट के प्रति एक संवेदनशील व्यक्ति की प्रतिक्रियाएँ होकर भी आम आदमी की घुटन और तकलीफ़ को प्रकट करती हैं :

एक शब्द कहीं नहीं कि वह लड़का कौन था
क्या उसके बहनें थीं
क्या उसने रखे थे टीन के बक्से में अपने अजूबे
वह कौन-कौन-से पकवान
खाता था
एक शब्द कहीं नहीं वह एक शब्द जो वह खोज
रहा था जब वह मारा गया। (आत्महत्या के विरुद्ध)

कोई हवाई अमूर्त शाब्दिक मातमपुरसी नहीं, बल्कि चारों ओर छायी हुई निर्ममता, अमानवीयता की यातना से गहरा प्रत्यक्ष साक्षात्कार :

मैं कि जो अन्यत्र
भीड़ में मारा गया था
....

मैं अपने घर में फिर
वापिस आऊँगा
मैंने कहा

बीस वर्ष
खो गये भरमे उपदेश में
एक पूरी पीढ़ी जनमी पली-पुसी क्लेश में
बेगानी हो गयी अपने ही देश में

वह
अपने बचपन की
आज़ादी
छीन कर लाऊँगा

तभी मुझे क़त्ल किया········ (मेरा प्रतिनिधि)

ज़ाहिर है सबकी यंत्रणा का ऐसा तीखा अहसास जैसे कवि को किसी अकेली दुनिया में बंद रहकर नहीं हो सकता, वैसे ही कविता को निजी दुनिया में बंद रखकर दूसरों को भी नहीं कराया जा सकता। इसीलिए रघुवीर सहाय की इन कविताओं में बेशुमार लोगों का आना-जाना है। कवि भले ही अपनी ही बात कह रहा हो, पर वह उसे दूसरे लोगों के साथ, उनके माध्यम से, उनके स्वर में स्वर मिलाकर, कह रहा है, या वे ही स्वयं उसकी बात कह रहे हैं। 'आत्महत्या के विरुद्ध' की कविताओं का परिवेश कोई अमूर्त काल्पनिक परिवेश नहीं, बल्कि तरह-तरह के जीते-जागते लोगों से भरा हुआ है। हिंदी के शायद ही किसी कवि ने कविता में लोगों को उनके नाम लेकर, उनकी आत्मा को उजागर करने वाले इतने विशेषणों से, याद किया हो। इन कविताओं में सामान्य रूप से गंधाते, मुँह चुराते लोग लोग लोग मार तमाम लोग, लखुखा आदमी और सुथन्ना सम्हालती जनता ही नहीं, साथ ही निराला के मँहगू की परम्परा में, बेचू वल्द निरहू, ढोड़े, मँगरे, पाँचू, गोबरे, होरे, मैकू, या रामगुलाम, रामधुन, रामलाल, रामसरन, गिरीश जैसे मामूली लोग भी हैं; मुसद्दीलाल, पंडित राजाराम, नेतराम, भोलारामदास, दिग्विजयनारायण सिंह-जैसे जातिवाचक नेताओं के साथ मोरारजी देसाई, विनोबा, जैनेन्द्र, नेहरू, लोहिया भी हैं। एक ओर महासंघ का मोटा अध्यक्ष, मुस्कराकर अध्यापक परिषद में आँख मारते गृहमंत्री, जीवनदानी-तोंददानी सदस्य, पिटा हुआ दलपति, खिसियाते कुलपति, घिघियाते उप-कुलपति, मुस्टंडा विचारक, भीमकाय भाषाविद्, कुँकुआते राजकवि, पुलकित उप-राष्ट्र-कवि, दुम हिलाते या घूर पर फुदकते संपादक हैं, तो दूसरी ओर मैले नाखून वाला चीकट लड़का, भीख खाती हुई दुधमुँही बच्ची, अधलिखे खत-से सो रहे बच्चे भी हैं। मँहगी, मचलती और तेज़-तर्रार औरतों के साथ-साथ पीली कन्याएँ, सीली चाचियाँ या वह लड़की भी है जिसकी बाढ़ मारी गयी है या जो चश्मा लगाये और सिलाई की मशीन कंधे पर उठाये फिरती है। एक सपाट एक विराट एक खुर्रांट समुदाय के साथ ही बड़े-बड़े लटके हुए स्तन हिलाते (राजनैतिक) दल, तोंद मटकाकर हँसती हुई सभा, मक्कार बूढ़ों की परिषद और अकादमी की महापरिषद भी हैं। इस प्रकार रघुवीर सहाय की कविता का यह संसार इतना जीवंत और ऐसे लोगों से भरा है जो हर जगह हर समय मिल जाते हैं, दिखाई पड़ते रहते हैं। पर फिर भी वे इन कविताओं में एक नया ही जीवन, नया ही अर्थ पाते हैं। परिचित-अपरिचित के बीच यह संयोजन, एक अनोखा संबंध, इस संसार को न तो झूठा पड़ने देता है, न पुराना या घिसा-पिटा। यह एक साथ ही कवि की प्रामाणिकता और उसके रचना-कौशल का सूचक है।

अपने इस तादात्म्य के कारण ही ये कविताएँ इस दौर की अधिकतर कविताओं से एकदम अलग हैं, जिनमें न छाती कूटने की मुद्रा है न बड़प्पन भरे कृपा-भाव की, न 'झेलने-भोगने' की आत्मश्लाघा या आत्मपीड़ा है, और न संसार का दुख-दर्द दूर करने के लिए झंडियाँ और नारे उठाये कूच करने का नेताई या मसीहाई अंदाज़, न कड़वे असह्य यथार्थ की कल्पना-मात्र से वैयक्तिकता की खोल में घुसने की प्रवृत्ति है और न 'मारो मारो मारो शोर' करने वाले 'मार तमाम लोगों' की भीड़ का नेता बनने की महत्त्वाकांक्षा। एक प्रकार से ये कविताएँ एक आत्मसजग और 'स्वाधीन व्यक्ति' की उस भीड़ या जनता के साथ अपने सही संबंध की तलाश हैं 'जिससे मुझे नफ़रत है सच्ची और निस्संग', मगर 'जिस पर कि मेरा क्रोध बार-बार न्योछावर होता है।' व्यक्ति और समुदाय के उलझे हुए, बहुस्तरीय संबंधों की गहरे जाकर यह तलाश ही वह दुहरा तनाव पैदा करती है जिससे कवि का निजी संसार विशिष्ट, अद्वितीय और व्यक्तिगत होकर भी एक व्यापक सार्थकता प्राप्त करता है।

इसी कारण ये कविताएँ किसी संकुचित अर्थ में 'राजनैतिक' कविताएँ भी नहीं हैं, बल्कि शायद यह कहना भी ग़लत न हो कि ये राजनैतिक या राजनीति की कविताएँ हैं ही नहीं। वे किसी राजनैतिक घोषणापत्र, कार्यक्रम या सिद्धांत का बखान या प्रचार नहीं करतीं, किसी विशेष दृष्टिकोण की पक्षधरता पर ज़ोर नहीं देतीं। वे तो उस परिवेश से एक नये प्रकार के तनाव की अभिव्यक्ति हैं जो आज इतना सर्वव्यापी रूप में राजनीति के अधीन हो गया है। वे एक जागरूक और संवेदनशील व्यक्ति द्वारा अपने चारों ओर के ठोस यथार्थ

जगत् के एक स्तर या एक से अधिक स्तर को परिभाषित करने के प्रयास की कविताएँ हैं। राजनैतिक स्थितियाँ और उनकी परिणतियाँ आज के इस ठोस यथार्थ जगत् के नियामक तत्त्व हैं जिनसे सामना किये बिना उसे परिभाषित नहीं किया जा सकता। आत्म-साक्षात्कार का आग्रही कवि उनसे बच नहीं सकता और न बचना चाह ही सकता है। पर वे राजनैतिक स्थितियाँ या परिणतियाँ कवि या कविताओं का साध्य, लक्ष्य या उद्देश्य नहीं हैं। इसीलिए इन कविताओं में जानी-पहचानी दुनिया का एकाधिक स्तर तो परिभाषित है, पर कोई राजनीति परिभाषित नहीं है। वे एक बुद्धिजीवी की, या कि, कवि के शब्दों में ही, अपनी ही एक मूर्ति बनाने और ढहाने वाले कवि की, प्रतिक्रियाएँ हैं, यानी कविताएँ हैं। वे किसी राजनीति-विशेष को नहीं सूचित करतीं, अधिक-से-अधिक मोटे तौर पर वामपंथी या स्थापित व्यवस्था-विरोधी और जनसाधारण की ओर उन्मुख सामान्य राजनैतिक रुझान का आभास देती हैं। इसीलिए उनमें क्षोभ और रोष तो है, पर किसी बदलाव का या उसकी संभावना का कोई आभास नहीं है—शायद इसलिए भी कि कवि का आग्रह है कि वह लड़े चाहे जितनी सेनाओं में, मगर अपने को अंत में मरने सिर्फ़ अपने ही मोर्चे पर दे। वास्तव में इन कविताओं को राजनैतिक कविताएँ कहना उनकी व्यापकता को कम करना होगा, भले ही उनमें राजनैतिक परिस्थितियों की अभिव्यक्ति को एक गहरा और नया मुहाविरा मिला हो।

व्यापक परिवेश से उलझाव के कारण अथवा विशेष प्रकार के चयन के कारण इस संग्रह की थोड़ी-सी किसी सर्वथा वैयक्तिक भाव-क्षण को प्रस्तुत करने वाली कविताओं में भी वह चमक या गरमी नहीं है जो रघुवीर सहाय की कविता की एक लुभावनी विशेषता रही है। 'प्रार्थना घर', 'एक लड़की', 'रचता वृक्ष', 'चढ़ती स्त्री', 'खिचा गुलाब', 'खड़ी स्त्री', 'अभी तक खड़ी स्त्री' आदि छोटी कविताओं में यद्यपि अत्यंत ही संयमपूर्वक सूक्ष्म शब्दचित्र उकेरने का प्रयास है, पर वे प्रायः हलकी-सी मानवीय करुणा को ही उभार पाते हैं किसी सघन निजी अनुभव को नहीं प्रस्तुत करते। फिर भी एक कविता में भावदशा की तीव्रता और सूक्ष्म सौंदर्य-दृष्टि दीख पड़ती है, यद्यपि यह स्वर इस संग्रह का मुख्य स्वर नहीं है :

अँधेरा यहाँ
अँधेरा नहीं है
एक खास तरह का चाँदना है
और न तू गोरी है
तू
एक
लुनाई है डबडबाई हुई
काले
सिर्फ़ तेरे केश हैं

सूने मैदान में हम नहीं हैं
सिर्फ़ एक दिशा है
और गति है
और जिसमें ठिठके खड़े थे हम वह क्षण था

एक सामान्य परिवेश से उलझाव का एक और भी असर इन कविताओं पर है कि कुल मिलाकर उस परिवेश से तनाव के कुछ ही रूप उभर सके हैं। परिवेश प्रायः सभी जगह एक-सा ही है, और उसके साथ तनाव से उत्पन्न भावदशाएँ भी सीमित हैं—व्यंग्य, विद्रूप, क्षोभ, आक्रोश, करुणा। और इनके भी बहुत अधिक स्तर या रूप नहीं उभरते। इसलिए अंत तक भावदशाओं की एकरसता और पुनरावृत्ति अनुभव होने लगती है। इन कविताओं के संसार में रहने वाले लोगों का विस्तार से विवरण पहले दिया गया है; वह भी सूचित करता है कि उन लोगों की बाहरी मुद्राएँ चाहे जितनी भिन्न हों—यद्यपि वे भी बहुत भिन्न नहीं हैं—पर उनकी आंतरिक मनःस्थिति प्रायः एक ही है। इसलिए, समग्रतः, कविताओं का मानसिक वातावरण एक-सा ही रहता है, चाहे मूर्तता के कारण रघुवीर सहाय उसे नीरस न होने देते हों। इसीलिए ये कविताएँ ज़िंदगी की गहराई से साक्षात्कार का आभास प्रायः नहीं देतीं। उनकी शक्ति उनकी आत्मीयता और विश्वसनीयता में है, तीव्रता या सघनता में नहीं।

किन्तु इन कविताओं की एक अन्य महत्त्वपूर्ण उपलब्धि उनके शिल्प और भाषा में है। यह निस्संदेह कहा जा सकता है 'सीढ़ियों पर धूप में' से 'आत्महत्या के विरुद्ध' तक आते-आते रघुवीर सहाय ने शिल्प और भाषा की कुछ और भी नयी मंज़िलें पार की हैं। उनकी कविताओं का स्थापत्य पहले भी सहज, सरल और सूक्ष्म होता था, उसमें नाटकीयता की बजाय एक गतिमान आंतरिक अन्विति होती थी। इन कविताओं में ये विशेषताएँ तो अधिक निखरी ही हैं, एक प्रकार

का खुलापन और बहुस्तरीयता भी आयी है। कई कविताओं में अनेक स्थितियों के समक्षीकरण द्वारा एक चरम समग्र प्रभाव की सृष्टि की गयी है, जैसे 'गिरीश की मृत्यु' या 'फ़िल्म के बाद चीख' में। लय के उपयोग में विविधता है और पारंपरिक तथा नयी दोनों प्रकार की पद्धतियाँ अपनायी गई हैं। विशेषकर बहुत जगह पंक्तियाँ अलग होकर भी जैसे बहकर एक-दूसरे में मिल जाती हैं, एक-दूसरे से कटी-कटी नहीं रहतीं। तुकों का कई जगह बहुत दिलचस्प उपयोग है पर कहीं-कहीं वह उस पद्धति के समीप आता जान पड़ता है जो श्रीकांत वर्मा एक विशेष प्रभाव के साथ अपनाते हैं। पर रघुवीर सहाय की कविता अपने प्रभाव के लिए अपनी 'सपाट बयानी' के नीचे एक विस्फोटक भावस्थिति को छिपाये रखने पर निर्भर है। प्रत्यक्ष अभिव्यक्त और अनभिव्यक्त के बीच यह तनाव और संतुलन कविताओं के कथ्य के अनुरूप ही है।

यही बात उनकी भाषा के बारे में भी है। बोलचाल की भाषा का इतना आत्मीय, सहज और प्रभावी उपयोग बहुत कम कवियों ने किया है। इस छोटे-से संग्रह में भी ऐसे अनगिनत शब्द और वाक्यांश मिल जायेंगे जो अद्भुत रूप में जीवंत और एकदम सटीक होकर भी हिंदी कविता में शायद पहली बार प्रयुक्त हुए हैं। और बड़ी बात यह है कि वे बनावटी ढंग से लाये गये या आरोपित नहीं हैं। वे आत्यंतिक रूप से भावदशा से, उस कविता के मूल कथ्य से, जुड़े हुए हैं और उसे अधिक प्रामाणिक और विश्वसनीय ही नहीं, पैना भी बनाते हैं। 'आत्महत्या के विरुद्ध' की कविताओं में ऐसी प्राणवान और सजीव भाषा का संस्कार है जो हिंदी कविता को नया स्तर देता है।

वैसे कुछ पुराने रुझान अब भी मौजूद हैं। जैसे, 'नया शब्द' और 'शहर से बाहर' जैसी कविताओं में अब भी अज्ञेय की भाषा और तरकीबों का कुछ प्रभाव है, जो पहले बहुत होता था। भाषा, शब्दों, तुकों के साथ खिलवाड़ का मोह भी छूटा नहीं है। जैसे दोनों 'सह-कविताएँ', या 'मेरा मींजा दिल' और उसके अंत में 'मैं हो न सका मैं सो न सका मैं रो न सका, मैं पों न सका पों क्या माने?' 'शराब के बाद सवेरा' में 'उसे टोता हूँ। ढ नहीं ट।' और 'मूर्ख मूर्ख मेरी ओर' में 'तन लिया मैंने / बचा सपने को अँधेरा—आखिरी तुक यही होगी—जिया मैंने' जैसे प्रयोग इन कविताओं के ढाँचे को ही नष्ट करते जान पड़ते हैं। इसी प्रकार 'आत्महत्या से विरुद्ध' जैसी मूल्यवान कविता में :

न टूटे न टूटे तिलिस्म सत्ता का मेरे अंदर एक कायर
टूटेगा टूट
मेरे मन टूट एक बार सही तरह
अच्छी तरह टूट मत झूठमूठ ऊब मत रूठ
मत डूब सिर्फ टूट..........

या 'मंथर मटकता मंत्री मुसद्दीलाल महंत मंच पर चढ़ा' जैसी पंक्तियाँ कविता के असर को तोड़ती ही हैं, कोई मदद नहीं करतीं। इसी प्रकार 'लोग लोग लोग मार तमाम लोग' तीन कविताओं में दुहराया गया है और पहली बार जहाँ वह बात को असरदार बनाता है वहाँ दुबारा आने पर खीझ पैदा होती है।

किंतु एक प्रकार से ये सब गौण बातें हैं। इस संग्रह की अधिकांश कविताओं में भाषा और शिल्प की अनोखी मौलिकता के साथ-साथ ऐसा मँजाव और निखार भी है जो रघुवीर सहाय ही नहीं, समकालीन हिंदी कविता की एक नयी उपलब्धि का सूचक है। और सबसे बड़ी बात यह है कि आत्मघात को बढ़ावा देने वाली अनेक चीखती, रिरियाती, मिमियाती आवाज़ों के बीच ये कविताएँ व्यक्ति और समुदाय दोनों की आत्महत्या के विरुद्ध स्वर को प्रस्तुत करती हैं।

"मेरे सामने समस्या है—"

विष्णु खरे

श्रीकान्त वर्मा हिन्दी के शायद एकमात्र युवा कवि हैं जिनकी एक वर्ष में दो कृतियाँ[1] प्रकाशित हुई हैं। प्रश्न उठाया जा सकता है कि जब दोनों कविता-संग्रह हैं तो अलग-अलग प्रकाशित क्यों हुए? उत्तर कई हो सकते हैं—व्यावसायिक सुविधा के, अवसर के अथवा दो तरह की कृतियों में एक विभाजन-रेखा देखने-दिखाने की कवि की आकांक्षा के। पहले दो क़िस्म के उत्तरों में हमारी कोई रुचि नहीं होनी चाहिए—कवि किस तरह अपनी कविताएँ प्रकाशित कर पाता है यह प्रश्न उठाना

१. 'दिनारंभ', सुषमा पुस्तकालय, दिल्ली-३१ तथा 'माया दर्पण', भारतीय ज्ञानपीठ, वाराणसी-५।

अब नितान्त अर्थहीन है। हाँ, यदि कवि यह चाहता है कि उसके पाठक तथा आलोचक एक साथ प्रकाशित उसके दो संग्रहों के बीच कोई रेखा खींचें और उस सीमांकन से उसके कृतित्व पर कोई विशिष्ट प्रकाश पड़े, तब एक ही वर्ष में एक कवि के दो संग्रह प्रकाशित होना यकायक महत्त्वपूर्ण हो उठता है और पाठक (यदि कविता कोई पाठक है—आलोचकों, कवियों तथा प्रच्छन्न कवियों के अलावा) उत्सुकता से उनकी ओर बढ़ता है।

'तुलना' करने की यह आकांक्षा जहाँ अत्यन्त स्वाभाविक है वहां इसमें एक सुविधा भी जुड़ी हुई है, जिसकी ओर मीडियाकर मस्तिष्क तुरन्त आकृष्ट होता है। 'सूर' और 'तुलसी' की तुलना हिन्दी विश्वविद्यालयों में पचास वर्ष होते आए होंगे और ऐसे कई पचास वर्षों तक वह होती रहेगी इसमें सन्देह करने का कोई कारण नहीं दीखता। तुलना में एक छद्म गणित होता है जिससे दिमागी काहिली को बड़ा चैन मिलता है किन्तु एक दिए गए समय में एक ही कवि की दो कृतियों की 'तुलना' या 'कन्फ्रंटेशन' इस अर्थ में असंगत नहीं होगा कि कवि इन अलग-अलग संग्रहों में अपनी कला, शिल्प या विश्वासों के विषय में अलग-अलग क्या कहना चाहता है। मेरी तो यह भी धारणा है कि यदि किसी कवि का उसी अवधि में कोई उपन्यास, या किसी उपन्यासकार का काव्य-संग्रह प्रकाशित हुआ हो तो इन भिन्न-भिन्न विधाओं वाली कृतियों के बीच भी कहीं-न-कहीं कोई रागात्मक अथवा तकनीकी सम्बन्ध अथवा तनाव रहता होगा और ऐसी अन्तर्विधात्मक 'तुलना' का भी प्रयास किया जाना चाहिए।

'दिनारंभ' की छियालीस कविताओं में से अड़तीस बहुत छोटी कविताएँ हैं। अभी यह तय करना कठिन है कि हिन्दी में ऐसी छोटी कविताएं लिखी जा रही हैं जो काव्य की शर्तों को पूरा भी करती हैं या महज़ एक फैशन हैं। मैं यहाँ पर 'हाइकू' वगैरह की चर्चा न करते हुए केवल छोटी कविताओं के औचित्य पर बहस करना चाहता हूँ। छोटी कविताओं के साथ कठिनाई यह है कि उन्हें स्पष्ट भी होना चाहिए और संपृक्त भी। न्यूनतम शब्दों में अधिकतम कह पाना आदिकाल से कवियों के आदर्शों में शुमार है किन्तु कविता 'हिन्दी में तार भेजिए' वाली भाषा तो नहीं हो सकती। फिर छोटी कविताओं में प्रतीक-संयोजन कर उनकी संप्रेषणीयता को कितना अक्षुण्ण रखा जा सकता है यह भी विचारणीय है।

दीख नहीं पड़ते हैं अश्वारोही लेकिन
सुन पड़ती है टाप;
—झेल रहा हूँ शाप

ऐसी छोटी कविताओं से कुछ भी पाना कठिन है। अन्तिम चार शब्द पहली दो पंक्तियों से इतने अधिक संदर्भ-विच्छिन्न हैं कि आरोपित मालूम होते हैं और इस आरोपण का एकमात्र दोषी 'शाप' तुक का मोह ही प्रतीत होता है। किन्तु 'नगर निवासी' :

रोज शाम
सड़कों पर
फटे
हुए उड़ते
सुबह के
अखबार

में शीर्षक, शिल्प, प्रतीक तथा उसके एवं भाषा की दृश्यात्मकता के बीच एक संतोषप्रद तादात्म्य है जो इस तरह की छोटी कविता को सार्थकता देता है। खेद का विषय यही है कि 'दिनारंभ' की ऐसी कविताएं दोनों हाथों की अँगुलियों पर गिनी जा सकती हैं।

कविता अच्छी है या नहीं (आखिर आलोचना का मौलिक उद्देश्य यह बताना नहीं तो और क्या है) इसकी एक कसौटी उसे ज़ोर से पढ़ना है। एक अच्छी रचना, उसके शब्द कितने भी क्लिष्ट क्यों न हों, पढ़ने में सपाट होती है। मुक्तिबोध की कविताएँ इसका उदाहरण हैं। इसके विपरीत, एक खराब कविता, जिसमें तथाकथित सपाटबयानी कितनी भी हो, ज़बान पर लड़खड़ा जाती है :

वह एक उठे हुए पाल की तरह मुझे
चीरती हुई चली जा रही है···
हाय ! मैं हूँ आकाश
मैं कैसे सिमटूं, मैं कैसे बाँधूं,
वह मुझमें से होकर चली जा रही है

ये पंक्तियाँ अटपटी इसलिए हैं कि इनका शिल्प तथा व्यवस्था असन्तुलित है। जो कहा जा रहा है वह भी मामूली है। इसके विपरीत 'दिनारंभ' :

शहरों में छत्तों में
ह—ल—च—ल
हुई

मक्खियाँ
बैठ गयीं
मेँ—ज—रा
अपनी-अपनी
मेजों पर

एक पूरी कविता है जिसे दो सशक्त एवं सजेस्टिव शब्दों—'मक्खियों', 'मेजों'—ने गहरे अर्थ दिए हैं।

श्रीकान्त की कविताओं पर एक आरोप दुहराव का भी लगाया जा सकता है। इन दो कविताओं में क्या फ़र्क है :

१. छायाएँ
न हिलती, न डुलती, न मिलती
एक दूसरे की उदासी में घुलती
केवल
खड़ी हैं

२. स्याही के धब्बे सोचते खड़े हैं

दोनों कविताओं में खड़े होने का दुहराव अभिव्यक्ति के असामर्थ्य की ओर संकेत करता है। एक प्रश्न यह भी है कि जब छायाएँ 'न हिलती, न डुलती, न मिलती' हैं तो 'एक दूसरे की उदासी में घुलती' किस तरह हैं। दुहराव कई स्थलों पर है—'स्मारक' में कवि अपनी पीठ पर 'पत्थर-सा संसार ढोता' है और 'टूटी पड़ी है परम्परा' में उसे लगता है 'कन्धों पर मेरे ज्यों सहसा रख दी हो किसी ने वसुंधरा', 'पतझर' में स्त्री 'घबराकर ढूंढ़ती है सारा दिन किसी परित्यक्त को' और फिर 'एक स्त्री का काया-कल्प' में वही स्त्री 'घबरायी हुई ढूंढ़ रही है, सड़क पार करने के लिए संग' (हम पुनः अन्दाज़ लगा सकते हैं—'किसी परित्यक्त का'।) : यह दुहराव कोई 'मोटिफ़' या प्रतीकात्मक दुहराव नहीं है, कवि की अजागरूकता का उदाहरण है।

छोटी कविताओं में तुक की उपादेयता क्या है? व्यक्तिगत रूप से हिन्दी कविता में अब मुझे तुक वैसे ही लगते हैं जैसे रेडियो पर गीतों के बीच कमर्शियल्स। लम्बी कविता में तुक के निबाह के कई मार्ग हैं और एक सजग कवि उन्हें औचित्य भी दे सकता है, किन्तु छोटी कविताओं में तुक एक घातक दुर्निवारिता से आता है और मैं नहीं समझता कि वह किसी भी तरह कविता के आनन्द को बढ़ाता है। दरअसल तुक का शिकार कवि अपने पाठक को भी तुक का शिकार बनाता है क्योंकि पाठक की आदत हो जाती है कि वह तुक की तलाश में रहे। शेक्सपियर के पास तुकों की कमी न थी किन्तु कोई कारण रहा होगा कि उसने अपने नाटक ब्लैंक वर्स में लिखे। मैं यह नहीं कहता कि तुकहीनता कविता की अनिवार्य शर्त है, किन्तु मैं यह भी नहीं मानता कि आरोपित तुकबद्धता अच्छी कविता का निर्माण कर सकती है।

श्रीकान्त सरीखा जागरूक कवि अपनी कविताओं के इन दोषों से अनभिज्ञ होगा यह मानने को जी नहीं करता। तब प्रश्न उठता है कि इतनी सारी प्रयोजनहीन छोटी कविताएँ इस संग्रह में क्यों? यदि कवि का आशय यह था कि वह पाठकों को बताए कि छोटी कविताओं में भी उसे प्रावीण्य प्राप्त है तो दुःख के साथ कहना होगा कि उसके इस उद्देश्य को रचनाओं का सहारा प्राप्त नहीं हो सका। वैसे इन कविताओं में समर्थ पंक्तियों की कमी नहीं किन्तु एक या दो पंक्तियों से ही कविता हो सकती तो कवि-कर्म कितना आसान होता। छोटी कविताएँ यदि कविताएँ नहीं बन पातीं तो ईसप की कहानियों में अन्तिम वाक्य की तरह नीतिवाक्य या क्लिशे हो जाती हैं।

छोटी कविताएँ 'माया दर्पण' में भी हैं किन्तु उनमें अच्छी कविताओं की संख्या 'दिनारम्भ' के अनुपात में ज्यादा है। दरअसल इन दोनों संग्रहों की कविताएँ पढ़ने के बाद मुझे यह लगा कि श्रीकान्त ने अपनी रचनाओं का आलोचनात्मक विभाजन करते हुए बेहतर कविताओं को 'माया दर्पण' में तथा बची हुई कविताओं को 'दिनारम्भ' में समाविष्ट किया है। 'बची हुई कविताओं' से मेरा तात्पर्य क्या है यह स्पष्ट ही होगा। यहाँ पर पुनः कवि-कर्म के एक गम्भीर दायित्व का ज़िक्र किया जा सकता है। यह सच है कि प्रत्येक कवि को अपनी रचनाओं से मोह होता है और वह चाहता है कि वे प्रकाशित रूप में स्थायित्व प्राप्त करें। प्रायः सभी कवि अपनी हल्की रचनाओं को फाड़ फेंकते हैं या उन्हें रूपान्तरित कर देते हैं या उनके फ्रैगमेन्ट्स को किसी लम्बी कविता में शामिल कर लेते हैं। प्रत्येक कवि हर समय ऐसा नहीं लिखता जो 'साहित्य' भी हो तथा प्रकाश्य भी। हर प्रकाशित पंक्ति साहित्य नहीं होती, बल्कि सचाई यह है कि हर युग में अधिकांश साहित्य पेरिफेरी का साहित्य होता है जो सिर्फ छपता चला जाता है। सृजनात्मक-प्रतिभा कभी भी समान रूप से प्रखर नहीं होती और कवि चाहकर भी प्रत्येक रचना को 'फर्स्ट रेट', नहीं बना सकता। प्रत्येक कवि जानता है, यदि वह सचमुच

कवि है तो, कि उसके कृतित्व में घटिया क्या है और मूल्यवान क्या ? फिर वह अपनी 'ब' 'स' 'ड' स्तरीय रचनाओं को क्यों प्रकाशित देखना चाहता है—शोध-छात्रों के लिए, आलोचक-वर्ग के लिए या साहित्य-इतिहासकारों के लिए ? मैं नहीं समझता कि हिन्दी का लेखक इतने उत्तरदायित्व-भाव से लिखता है। घटिया रचनाओं के मोह ने हिन्दी की अधिकांश पुस्तकों को जन्म दिया है। ऐसे कवि, उपन्यासकार तथा कहानी-लेखक जिन्हें वर्षों पहले अवकाश प्राप्त कर लेना चाहिए था हर वर्ष अपने दिमाग का कचरा हिन्दी के चौरस्ते पर फेंक आते हैं। श्रीकान्त वर्मा हिन्दी के इने-गिने कवियों में हैं जिनकी प्रतिभा से लोग खौफ खाते हैं किन्तु 'दिनारम्भ' की कविताओं के चयन में उन्होंने स्वयं के प्रति उस निर्ममता का परिचय नहीं दिया है जिससे वे अन्य कवियों की रचनाओं को कसते हैं।

'एक मुर्दे का बयान' 'दिनारम्भ' की उल्लेखनीय लम्बी कविताओं में है। कवि का मूड खीझ, आत्मालोचन तथा रोष का है और कहा जा सकता है कि यह कविता श्रीकान्त के अपने त्रास को ही नहीं वरन् समूचे कवि-कर्म की रेगिस्तानी छटपटाहट को व्यक्त करती है। आज की कविता की एक बड़ी पहचान, या कहा जाए कि एकमात्र पहचान, यही है कि वह 'कविता' की निस्सारता को निर्ममतापूर्वक समझ चुकी है। बीसवीं सदी के साठवें वर्ष के बाद कवि जान गया है कि :

न मेरी कविताएँ हैं न मेरे पाठक हैं / न मेरा अधिकार है / यहाँ तक कि मेरी सिगरेटें भी नहीं हैं

'कविताएँ', 'पाठक' और 'अधिकार' के बाद सिगरेटों का ज़िक्र स्थिति के व्यंग्य को गहरा करता है तथा उसे एक सामाजिक आयाम देता है। बाहर की स्थितियों पर घूमती हुई यह व्यंग्य-दृष्टि अब स्वयं कवि पर टिकती है :

मैं एक साथ ही मुर्दा भी हूँ और ऊदबिलाव भी / मैं एक बासी दुनिया की मिट्टी में / दबा हुआ / अपने को खोद रहा हूँ

यही व्यंग्य-दृष्टि और पैनी, और अधिक निर्मम होती चली जाती है :

मैं एक बिल्ली की शक्ल में छिपा हुआ चूहा हूँ / औरों को टोहता हुआ / अपने से डरा हुआ बैठा हूँ

अन्तिम तीन पंक्तियाँ मृत्यु-लेख की तरह कविता का समापन करती हैं और किसी भी भारतीय बुद्धिजीवी की समाधि पर चस्पाँ की जा सकती हैं :

मैं एक गलत बीवी का नैपोलियन था / मैं एक / गलत जनता का शहीद था

'दिनारम्भ' की कविताएँ एक 'मिक्स्ड फयर' हैं और जहाँ पाठक एक कविता से कुछ प्राप्त करता है वहाँ दूसरी कविता उसे निराश करती है। 'युद्ध और क्लिप' की पहली पंक्ति भौंचक्का कर देती है :

किसी भी देश की जमीन पर, पीठ पर पड़ा अपनी काकरोच

सपाटबयानी का अर्थ यदि केवल सपाट शब्द चुनना ही है तो किसी को इस पंक्ति से शिकायत नहीं होगी किन्तु मैं नहीं समझता कि सपाटबयानी का अर्थ इतना संकुचित है या सपाटबयानी इतनी सहज है। यहाँ पर अर्थ की कोई कठिनाई न होते हुए भी शब्द-क्रम ने एक हास्यास्पद दुरूहता पैदा कर दी है, किन्तु इस कविता में मुझे एक और गम्भीर दोष दिखाई देता है। पहली तेईस पंक्तियों तक तो कवि 'मजे में', 'बेफिक्र' पड़े हुए 'काकरोच' का बयान करता है जिसे 'युद्ध का डर नहीं है' और जो 'अपनी बेखबरी की बंजर ज़मीन पर' लेटा हुआ है। यहाँ तक बात बहुत सीधी और स्पष्ट है और हम व्यंग्य को व्यंग्य के रूप में ग्रहण करते हैं लेकिन :

दुनिया की क्लिपें अभी खत्म नहीं हुई हैं / कि दुनिया की सुन्दरियाँ / झुककर / काकरोच के समीप / कहें/ बिना काकरोच के गुजर नहीं

पंक्तियों से कविता का सिलसिला ही नहीं टूटता, व्यंग्य भी टूट जाता है और वह शुद्ध भर्त्सना बन जाता है।

'पटकथा' की तीन पंक्तियों के सहारे श्रीकान्त के शिल्प पर कुछ कहा जा सकता है :

वह हाथ बढ़ाता है और पाता है
पसीने से चिपचिपायी हुई चोली है।
वह घबराकर किसी और का हाथ पकड़ लेता है।

इन पंक्तियों में 'वह' कवि का परसोना (persona) है यह मानने में कोई आपत्ति नहीं हो सकती, किन्तु इन पंक्तियों को छोड़ सारी कविता में कवि ने persona के लिए 'मैं' 'मैंने', 'मुझे', 'मेरे' का प्रयोग किया है, फिर इन पंक्तियों में अन्यपुरुष एकवचन का उपयोग क्यों ? उत्तर हमें कवि के तुक-आयोजन में मिलता है। यदि 'मैं' का प्रयोग किया जाता

तो इस तरह की पंक्तियाँ होतीं :

एक जेब में घड़ी
दूसरी में फाँसी लगाने के लिए कमन्द है
सुविधा के लिए नींद की गोली है।
मैं हाथ बढ़ाता हूँ और पाता हूँ
पसीने से चिपचिपाती हुई चोली।
मैं घबराकर किसी और का हाथ पकड़ लेता हूँ।
यह एक दूसरी तरह का संसार है
एक ठेकेदार जिसका नेता है।

श्रीकान्त ने पाया होगा कि 'मैं' का प्रयोग करने से आगे तुकों में कठिनाई होगी, अतएव कविता की यूनिटी को वाला-ए-ताक़ रखकर 'मैं' का 'वह' में परिवर्तन कर लिया गया। एक दिलचस्प चीज़ यह भी है कि 'बन्द' के तुक-निर्वाह के लिए 'फाँसी लगाने के लिए' 'रस्सी' नहीं, 'कमन्द' लानी पड़ी। 'मैं' और 'वह' के बीच चुनाव की समस्या 'ढंग' में भी है।

'ढंग' विरलता से सघनता की ओर जाने वाली रचना है किन्तु प्रारम्भ की बहुत-सारी पंक्तियाँ कविता को वह दिशा देती प्रतीत नहीं होतीं जिस पर वह अन्त में पहुँचती है। पैंतालीसवीं पंक्ति के बाद उसमें एक निश्चयात्मकता आती है, बल्कि यह भी कहा जा सकता है कि एक ऐसा मोड़ आता है कि लगता है कोई दूसरी कविता प्रारम्भ हो गई है। अंतिम पंक्तियाँ :

वक्त / चला जाता है / वक्त / चला गया है / हर जगह हाजिर था मैं / लेकिन / दस्तखत कहीं नहीं / शहर के बीच से नदी गुजरती है / शहर के बीच से सैनिक गुजरते हैं / शहर के बीच से बन्दी गुजरते हैं / शहर वही है जो पहले था—जानता है / जुल्म।

सिद्ध करती हैं कि श्रीकान्त भाषा और अभिव्यक्ति की उस सहजता तथा इकॉनॉमी तक सफलतापूर्वक पहुँच सकते हैं जिनके लिए अपनी कविता में वे लगातार कोशिश करते रहे हैं।

'माया-दर्पण' में, जो दूसरे संग्रह को शीर्षक देती है, 'ढंग' का मूड विस्तार पाता है।

मैं अनुभव कर रहा हूँ सब कुछ / बस छूकर / चला जाता है / छला जाता है / आकाश भी / सूर्य से / जो दूसरे दिन / आता नहीं है / कोई और सूर्य भेज देता है।

भाषा तथा अभिव्यक्ति के जिस सारल्य की चर्चा हो चुकी है वह यहाँ भी दृष्टिगोचर है :

मैं हरेक नदी के साथ / सो रहा हूँ / मैं हरेक पहाड़ / ढो रहा हूँ / मैं सुखी / हो रहा हूँ / मैं दुखी / हो रहा हूँ / मैं सुखी दुखी होकर / दुखी-सुखी / हो रहा हूँ।

अन्य रचनाओं के अलावा 'माया दर्पण' की दो महत्त्वपूर्ण रचनाएँ हैं 'दिनचर्या' तथा 'दूसरे का डर'। इसी संग्रह की एक अन्य कविता 'दिनारम्भ' 'दिनचर्या' के बहुत निकट है और उसी का विस्तृत अंश लगती है। सचाई यह है कि श्रीकान्त की कविताओं में कुछ स्थूल पैटर्न देखे जा सकते हैं और उनके अन्तर्गत अधिकांश रचनाओं का वर्ग-विभाजन सम्भव है। यह तो विषयान्तर हुआ—'दिनचर्या' का आश्रय लेकर कवि के शिल्प, कविता की विज़ुअल अपील तथा शिल्पोचित अभिव्यक्ति पर कुछ कहना है। अच्छी कविता की एक पहचान यह भी है कि क्या उसमें कोई दृष्टिगत सौन्दर्य है जो उसकी विषय-वस्तु से चित्रनुमा ढंग से जुड़ा हुआ है। पाश्चात्य सौलिड पोएट्री इसी दृष्टिगत तथा काव्यगत सौन्दर्य को एकाकार करने की कोशिश थी जिसकी भोंडी देसी नकल हिन्दी की दिवंगत ठोस कविता में दीख पड़ी थी। सायास चित्र प्रस्तुत करने के प्रयत्न में कवि के पास एक चालाक शिल्प ही बच रहता है और कविता दम तोड़ चुकी होती है। 'दिनचर्या' उन बहुत थोड़ी कविताओं में है जिनमें शिल्प का सफल निर्वाह चित्रकारी के लिए तो हुआ ही है, जीवन भी अक्षुण्ण रहा है। पहली पंक्ति से ही कविता तथा चित्र साफ़-साफ़ उभरते हैं :

एक अदृश्य टाइपराइटर पर साफ-सुथरे
कागज-सा
चढ़ता हुआ दिन,
तेजी से छपते मकान,
घर, मनुष्य
और पूंछ हिला
गली से बाहर आता
कोई कुत्ता।

इस पूरी कविता की रवानी टाइपराइटर पर किसी मज़मून के छपते चले जाने को विलक्षण वास्तविकता से न केवल हमारी आँखों पर बल्कि कानों में भी उतारती चली

जाती है। एक और पंक्ति द्रष्टव्य है :

जलाशय पर अचानक छप जाता है
मछुए का जाल

यहां एक शब्द 'छप' न केवल छपने की क्रिया अभिव्यक्त करता है बल्कि जल पर जाल के छप से गिरने की ध्वनि भी उत्पन्न करता है और इस तरह सुखद अर्थ-स्तरों को सुझाता है। अन्तिम पंक्ति :

एक चिड़चिड़ा बूढ़ा थका क्लर्क ऊबकर छपे हुए शहर को छोड़कर चला जाता है।

टाइपिस्ट की अन्तिम लम्बा वाक्य शीघ्र टाइप करने की व्यग्रता, उससे उत्पन्न मशीनी संगीत तथा अन्तिम चार शब्द एक पत्र पूरा हो जाने के बाद के मौन को अत्यन्त विश्वसनीय तरीके से प्रतिध्वनित करते हैं : 'एक चिड़चिड़ा बूढ़ा थका क्लर्क' जो वह है उसके अलावा सूर्य भी हो सकता है और यह प्रतीक-सम्भावना रोमांचकारी है।

व्यंग्य (आयरनी के अर्थ में) की चरम सीमा कवि की अपनी डुएलिटी के अहसास में है और इस बात में कि वह किस तरह स्वयं को देखकर मुँह चिढ़ाता है। अधिकांश हिन्दी साहित्य तथा हिन्दी साहित्यकार भौतिक रूप से द्वि-आयामी हैं और व्यक्तित्व की द्वैधता की अनुभूति अत्यन्त विरल है। इस दृष्टि से श्रीकान्त की रचना 'दूसरे का डर' द्रष्टव्य है :

कोई मेरे साथ / कपड़े / बदल रहा है / कोई मेरे पैरों / चल रहा है

× × ×

कोई मेरी घड़ी को / अपनी कलाई में / महसूस / कर रहा है / बुज़दिल ! दिखाई नहीं देता / मेरे आसपास / कहीं छुपा हुआ / मुझसे / डर रहा है।

इन पंक्तियों में एक मन्द्र हॉरर है तथा अन्तिम पंक्तियों में स्पष्ट है कि जिसे बुज़दिल कहा जा रहा है वह न तो कायर है और न कहीं छिपा हुआ 'मुझसे डर रहा है।' दरअसल हम सारे बुज़दिल 'उससे' डरकर कहीं अपने भीतर छिपे हुए हैं।

इलियट की प्रसिद्धतम रचनाओं में 'द लव सॉंग ऑव जे अल्फ्रेड प्रूफ्रॉक' है जिसे मैं श्रीकान्त की 'एक दिन' के समानान्तर रखना चाहूँगा। दोनों की थीम तथा अभिव्यक्ति में आश्चर्यजनक साम्य है :

स्त्रियाँ जो प्रेमिका नहीं थीं न वेश्याएँ / बिस्तर पर / छाप की तरह / दूसरे सवेरे धुल जाती हैं।

× × ×

केवल एक स्त्री की साड़ी की गंध

× × ×

मैं बूढ़ा हो गया हूँ

× × ×

किसको पुकारूँगा ?
सारा दिन कैसे गुजारूँगा ?

× × ×

क्या मैं अपने गुजरे जीवन को / एक कागज़ पर लिखी हुई / कविता की तरह / दूसरे काग़ज़ पर उतारूँगा ? क्या मैं यह सोचूँगा / कि यदि मैंने उस पर शासन भी / किया होता / तो वह नहीं जाती ! और क्या मैं फिर शासन के लिए / एक शासक का चेहरा / (जिसे उसने किसी और से उधार लिया था) / जाकर उधार लाऊँगा ?

मैं अपनी दो टाँगों पर / टँगा हुआ / गट्ठर हो गया / हूँ।

× × ×

In the room the women come and go
Talking of Michelangelo.

× × ×

Is it perfume from a dress
That makes me so digress ?

× × ×

I grow old...I grow old...
I shall wear the bottom of my trousers rolled.
Shall I part my hair behind ? Do I dare to eat a peach ?

× × ×

And indeed there will be time
To wonder, 'Do I dare ?' and, 'Do I dare ?'

× × ×

When I am pinned and wriggling on the wall,
Then how should I begin
To spit out all the butt-ends of my days and ways ?

And how should I presume ?

× × ×

Should I, after tea and cakes and ices,
Have the strength to force the moment to
its crisis ?

× × ×

(They will say, : 'But how his arms and
legs are thin !')

इन समानधर्मा पंक्तियों को उद्धृत कर मैं केवल यह कहना चाहता हूँ कि जिस खोखलेपन तथा भयावहता की तीव्रानुभूति १६१७ के आसपास पाश्चात्य कविता में अभिव्यक्ति पा रही थी उस तक तथा उसकी अभिव्यक्ति तक हिन्दी अब पहुँच पाई है। और स्मरण रहे कि हम अभी सिर्फ़ पहुँचे ही हैं, पीछे नहीं छोड़ पाए हैं। हिन्दी कविता के मुहावरे पर अँगरेज़ी का कितना प्रभाव है यह भी इन उद्धरणों से स्पष्ट है।

प्रत्येक काव्य-संग्रह की कविताओं को दो हिस्सों में विभक्त किया जा सकता है और ये विभाजन कवि-व्यक्तित्व के होते हैं। हर रचनाकार दो स्तरों पर जीता है, एक होता है सामान्य रचना का और दूसरा होता है उसके व्यक्तित्व का वह पहलू जो सामाजिक तथा मनोवैज्ञानिक दबावों में कुछ सोचता है, महसूस करता है और कुछ कहना चाहता है। सामान्य रचना एक सीमित अर्थ में अनाम होती है। लिरिक तथा वर्णनात्मक कविता को हम शिल्पगत चिह्नों से भले ही पहचान लें, उसमें एक सामान्यता होती है जो हमें कवि का नाम जानने के लिए बाध्य नहीं करती। लेकिन हर्ष का विषय है कि प्रत्येक कवि पारम्परीण अर्थों में कवि नहीं होता और सदैव पारम्परीण कविता न लिखता हुआ कुछ और भी होना-लिखना चाहता है। किसी भी कवि की प्रतिनिधि रचनाएँ वे नहीं हैं जिनमें उसने पारम्परीण अनुभूतियों को कुछ अधिक अच्छे ढंग से लिखा है बल्कि वे हैं जिनमें वह अपनी मान्यताएँ, प्रतिक्रियाएँ, अपने हस्ताक्षर तथा अपनी विजय तथा पराजयों को छोड़ आया है। पिछले कितने ही वर्षों की कविताएँ उठा लीजिए, वही जीवित हैं जिनमें कवि ने स्वयं के विषय में कहते हुए सबके विषय में कुछ कहा है। सामान्य रचना के पीछे अभ्यास, स्मरणशक्ति, शिल्प की सतही पकड़ (तथा व्यावसायिकता का भी) योगदान होता है और हिन्दी में इसका सबसे बड़ा उदाहरण मैथिलीशरण गुप्त हैं। पिछले पच्चीस वर्षों में हिन्दी कविता सामान्य रचना से उत्तरोत्तर विमुख हुई है और व्यक्तित्व-वैशिष्ट्य की सम्प द्रुतगति से बढ़ी है। 'माया-दर्पण' में कम-से-कम नौ ऐसी कविताएँ हैं जिन्हें हम 'श्रीकान्त वर्मा की कविता' कह सकते हैं, शेष को 'श्रीकान्त वर्मा के समय में लिखी जा रही कविताओं के समान श्रीकान्त वर्मा की कविताएँ' कहा जा सकता है। वे कविताएँ हैं 'घर-धाम', 'नकली कवियों की वसुन्धरा' 'दुनिया नामक बेवा का शोकगीत', 'हेर-फेर', 'प्रेस वक्तव्य', 'दो-टूक रास्ता', 'बुखार में कविता', 'अन्तिम वक्तव्य' तथा 'समाधि-लेख'।

आश्चर्य का विषय है कि आलोचना में सदैव व्यक्तित्व को एक ठहरी हुई, तर्कबद्ध या शाश्वत वस्तु मान लिया जाता है और फिर इस 'फैलेसी' के सहारे कवि पर या तो अजीबोगरीब आरोप लगाए जाते हैं या भ्रान्त प्रशंसा की जाती है। मनुष्य न रॉबट है और न कम्प्यूटर, वह पुच्छलतारा भी नहीं है कि उसके आचार-व्यवहार में कोई गणित खोजा जा सके। आदमियों की वह नस्ल जिसे कवि कहा जाता है प्रारम्भ से ही अविश्वसनीय तथा तर्क से परे मानी गई है किन्तु सारे कवि अलग-अलग किन्हीं मूल्यों के एक स्तर तक पहुँचते हैं और कमोबेश वे उनकी कविताओं में एक अनुपात में परिलक्षित होते हैं। यह भी ध्यान रहे कि कवि महान्, संवेदनशील, सरलहृदय, दयालु होने के साथ-साथ लफंगे, शरारती, विदूषक और धोखेबाज भी होते हैं (आखिर वे भी आदमी हैं) और इसलिए कवि के वक्तव्य को फ़ेस वैल्यू पर ग्रहण करना अपने विवेक को जोखिम में डालना है। 'घर-धाम' कविता अपनी प्रथम नौ आवश्यक पंक्तियों के बावजूद भी पठनीय है :

मैं अब घर जाना चाहता हूँ / मैं जंगलों / पहाड़ों में / खो जाना चाहता हूँ।

× × ×

मैं जीना चाहता हूँ / और जीवन को / भासमान / करना चाहता हूँ

× × ×

मैं विवाह करना चाहता हूँ / और / उसे प्यार / करना चाहता हूँ / मैं उसका पति, / उसका प्रेमी / और / उसका सर्वस्व / उसे देना चाहता हूँ / और / उसकी गोद / भरना चाहता हूँ।

मैंने ऊपर इन पंक्तियों को 'पठनीय' कहा है क्योंकि ये

खतरनाक पंक्तियाँ हैं, कविता में मानवीय संवेदना खोजना एक अच्छी बात है और किसी कवि के कृतित्व में यदि वह पायी जाए तो और भी अच्छी बात है, लेकिन एक पंक्ति अथवा एक कविता का क... आश्रय लेकर एक कवि को वह सिद्ध करना जो वह नहीं है एक ऐसा व्यवसाय है जिसमें सबसे ज्यादा घाटा आलोचक को ही उठाना पड़ता है। उपर्युक्त पंक्तियों से यह सिद्ध किया जा सकता है कि श्रीकान्त शोरशराबे से तंग आ चुके हैं, वे कस्बे लौट जाना चाहते हैं, उनकी कविता महानगर से करुणा की ओर रवाना हो चुकी है, वे मृदु मानव-सम्बन्धों के कवि हैं, उनमें जिजीविषा है, उनका काव्य मानव-मूल्यों का काव्य है, आदि, आदि। मैं यह मानता हूँ कि इन पंक्तियों से श्रीकान्त के काव्य-चिन्तन के विषय में कुछ जाना जा सकता है किन्तु इसे स्वीकार करना कठिन है कि यह और ऐसी कविताएँ श्रीकान्त की प्रतिनिधि कविताएँ हैं। हिन्दी कविता में आज ऐसी स्थिति आ गई है कि प्रेम, आत्मदया, सहानुभूति वगैरह कवि को एक अस्थायी पलायन दे सकते हैं, जब वह इनसे लौटकर आता है तो उसके समक्ष तथा उसकी कविता में विद्रूप, व्यंग्य, प्रहार, क्रूरता, सेडिज्म, भर्त्सना, ही होते हैं क्योंकि आज के वेल्ट्शमर्ज के बाद और बचता भी क्या है। वैसे तो पैन्डोरा का बक्स खुलने के बाद अन्त में आशा भी निकली थी। श्रीकान्त की जिन नौ महत्त्वपूर्ण कविताओं का जिक्र मैंने ऊपर किया है उनमें 'घर-धाम' मैंने इसलिए शामिल की है क्योंकि वह अन्तर्भूत करुणा की एकमात्र कविता है और अन्य आठ में कवि का मूड इस तरह है :

टाँग दो शो-विन्डो में / दाग़ों से भरा / पेटीकोट

× × ×

क्या मैं पड़ा रहूँ अपनी स्त्री की जाँघ की / दराज़ में?

× × ×

बरस रहा है अन्धकार ! / मगर उल्लू के पट्ठे ! / स्त्रियाँ रिझाऊ कविताएँ / लिख रहे हैं।

× × ×

यह मेरा सवाल नहीं है / बल्कि / उत्तर है : / 'मैं क्या कर सकता हूँ !'

× × ×

मैं ग़ौर से सुन सकता हूँ / औरों के रोने को / मगर दूसरे के दुख को / अपना मानने की बहुत / कोशिश की; नहीं हुआ !

× × ×

सारे शहर की / वेश्याओं पर / सूरज / सवार था।

इन पंक्तियों की तल्खी और तुर्शी अन्य कविताओं की तमाम करुणा को व्यर्थ, बेमायना तथा पीलियाग्रस्त बना देती है। अपने सारे लिरिसिज्म तथा एकांत संवेदनशीलता के बावजूद श्रीकान्त एक गहन तथा दुर्धर्ष कवि हैं और उनकी प्रतिभा पर कोई भी लेबल लगाना अभी न तो उचित है न बुद्धिमत्तापूर्ण। हाँ, यह साफ़ है कि अपनी उन कविताओं में जहाँ उनकी क्रीडो सुनिश्चित रूप से व्यक्त हुई है, वे भावुक, करुण, सॉफिस्टिकेट नहीं हैं बल्कि निर्मम, क्रूर तथा जर्राह-सरीखे हैं। श्रीकान्त को यह भी परवाह नहीं है कि समाज, व्यवस्था तथा आलोचक, उनकी कविता के विषय में क्या सोचते-समझते-कहते हैं :

सारे संसार की / सड़क पर / दो-टूक कवि / पेशाब करता / हुआ / चला / गया है।

वर्तमान व्यवस्था इस हास्यास्पदता तक पहुँच गई है कि कवि उसका 'उद्धार' करने को तनिक भी उत्सुक नहीं है, बल्कि उसका आक्रोश उसे एक भयावह सैन्स ऑव ह्यूमर देता है जो स्विफ्ट तथा सर्वेन्टीज़ के बहुत निकट है :

इस सारे क्रम का / मैं क्या करूँ ? / क्या उल्लुओं की जगह / इस रथ में जोत दूँ / दो कुत्ते ?
क्या बागडोर दे दूँ / वेश्याओं के / हाथ में ?

यह इसलिए कि वह इतिहास के छल-प्रपंच को खूब समझ चुका है और जानता है कि सत्ता-परिवर्तन, इन्कलाब के वादों तथा जनतान्त्रिक समाजवाद के नारों में एक साज़िश छिपी हुई है :

कुछ लोग मूर्तियाँ बनाकर
फिर
बेचेंगे क्रान्ति की (अथवा
षड्यन्त्र की)
कुछ और लोग
सारा समय
कसम खाएँगे
लोकतन्त्र की।

श्रीकान्त के लिए तथा हमारी समूची पीढ़ी के लिए अब देश, देशभक्ति, राष्ट्रीयता, नागरिकता सरीखे शब्द न

केवल अर्थहीन बल्कि भयावह तथा हास्यास्पद हो गए हैं क्योंकि इन्हीं का प्रयोग करते हुए हम सबको धोखा दिया गया है। कवि के लिए केवल धर्म ही नहीं, देश भी अफ़ीम है और इसीलिए जब देश तथा कविता के बीच चुनाव का प्रश्न आता है तब वह प्रहार करता है :

मूर्खो ! देश को खोकर ही
मैंने प्राप्त की थी
यह कविता'''

कवि क्या कर सकता है ? इस देश तथा इस व्यवस्था की शिराओं तथा केशिकाओं के अन्तिम छोरों तक सड़न पैठ चुकी है जिसे सैकड़ों भूदान, हज़ारों सदाचार समितियाँ तथा लाखों एन्टी-करप्शन ब्यूरोज़ नहीं निकाल पाएँगे। कैन्सर के मरीज़ की एक ऐसी हालत हो जाती है जिसमें यह नहीं कहा जा सकता कि वह तीन घण्टे जीवित रहेगा अथवा तीन वर्ष, और ऐसी दशा में सिर्फ एक प्रतीक्षा ही की जा सकती है :

मैं टकटकी लगाए
देख रहा हूँ
कैसे गिरती है इमारत
धरती के कँपने से

मैं यह सिद्ध नहीं करना चाहता कि श्रीकान्त का स्वर देश-द्रोही तथा मानव-द्रोही है, यदि होता भी तो इसकी चिन्ता न कवि को होनी चाहिए, न आलोचक को; मैं केवल यह कहना चाहता हूँ कि श्रीकान्त की कविता में वर्तमान का गहरा अवेयरनेस है और इस देश में प्रत्येक सोचने वाला या तो पलायनवादी हो जाता है या आक्रामक—और पहला तरीका बहुत आसान है—इसीलिए श्रीकान्त आक्रमण करते हैं।

इस सबके बाद श्रीकान्त की कविता की दिशा के विषय में क्या किसी परिणाम पर पहुँचना सम्भव है ? 'दिनारंभ' तथा 'माया दर्पण' की एक सौ पन्द्रह रचनाएँ पढ़ने के बाद कोई स्पष्ट पैटर्न उभरता है यह कहना कठिन है। छोटी कविताओं में उनकी अभिव्यक्ति स्निग्ध तथा आत्मकथ्यात्मक है जबकि लम्बी कविताओं के कैन्वस विस्तृत हैं और आज की कविता के सारे लक्षण—मोहभंग, नाराजगी, घृणा, विद्रोह—उनमें प्राप्त हैं। ऐसी छोटी तथा लम्बी रचनाओं को एक ही संग्रह में रखना कन्ट्रास्ट अवश्य पैदा करता है किन्तु कन्ट्रास्ट सुखद एवं सार्थक तभी होता है जब दोनों पक्ष प्रकृति में भिन्न होते हुए भी शक्ति में समतुल्य हों। श्रीकान्त की छोटी कविताएँ यदि प्रभाव छोड़ सकतीं तो इसलिए नहीं छोड़ पातीं कि उनके पास ही लम्बी कविताएँ हैं जिनका मुहावरा, विषय-वस्तु, ओज तथा स्वर इतने तात्कालिक तथा प्रखर हैं कि संयत लिरिसिज़्म उनके आगे ठहर नहीं पाता। 'दुनिया नामक वेवा का शोक-गीत' लिखने वाला कवि 'फुलचुक्की का प्यार' भी लिख सकता है, इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं, मैं यह प्रश्न भी नहीं उठाता कि जब वह 'नकली कवियों की वसुन्धरा' लिखता है तो साथ में 'सारा-का-सारा सका न पा, सारा-का-सारा सका न दे' क्यों लिखता है, लेकिन कोई वजह होगी कि इनी-गिनी वही कविताएँ मस्तिष्क में फँसकर रह जाती हैं जो लम्बी हैं, जिनमें उनका नकारात्मक आक्रोश है और जो यह बताती हैं कि अपनी छोटी रचनाओं की गीतात्मकता के बाद भी उनका कवि 'अन्तिम वक्तव्य' में यह कहने पर बाध्य होता है :

कोई भी जगह नहीं रही
रहने के लायक
न मैं आत्महत्या
कर सकता हूँ
न औरों का खून !

मैं समझता हूँ कि श्रीकान्त अभी अपना रास्ता निश्चित नहीं कर पाए हैं—मेरा अर्थ यहाँ किसी राजनीतिक या किसी और दर्शन से नहीं है। उनका कवि दो स्तरों पर रचना कर रहा है और जहाँ इसमें खतरा है वहाँ सुविधाएँ भी हैं। साहित्य में मज्झिम निकाय या टाइट रोप वॉकिंग सम्भव है या नहीं, यह मैं नहीं जानता, किन्तु यह अवश्य कहा जा सकता है कि वही साहित्य बचा है जो उभयमुखी नहीं है। 'कवि' शब्द का पारम्परीण अर्थ हिन्दी में इतना गहरा पैठ चुका है कि हम पहले कवि होना चाहते हैं और बाद में यदि लिख पाते हैं तो कविता लिखते हैं। श्रीकान्त कविता लिखते हैं इसमें सन्देह करने का कोई आधार नहीं है, हाँ, समय आ गया है कि वे खतरों तथा सुविधाओं के बीच चुनाव कर लें।

जोड़ते हुए···

प्रयाग शुक्ल

कई साल पहले जब रेणु का 'मैला आँचल' पढ़ना शुरू किया था तो कुछेक पृष्ठों के बाद पढ़ नहीं पाया था—तब साहित्य की दुनिया से और दुनिया से जितना परिचय था, उसमें वह 'दूसरी दुनिया' का उपन्यास लगा था। कुछेक साल पहले जब उसे दोबारा पढ़ना शुरू किया तो न सिर्फ पूरा पढ़ गया, बाद में भी कई बार उसे बीच-बीच से पढ़ता रहा। फिर 'परती : परिकथा' भी पढ़ा, उनका कहानी संग्रह 'ठुमरी' भी—उनकी रचनाएँ पढ़कर बचपन की कितनी भूली-बिसरी स्मृतियाँ उभरीं। तमाम बिखरी हुई, लेकिन अलग से अपना अस्तित्व रखने वाली चीज़ों को मानों फिर से पहचाना—'मैला आँचल' में नीलहे साहबों की कोठी, पूरा मेरीगंज गाँव, 'परती : परिकथा' में जित्तन बाबू का 'बुर्ज', जहाँ बैठकर वह 'कारन' पिया करते थे, परती, असंख्य चिड़ियाँ—उनकी बोली-बानी, 'तीर्थाटन' कहानी में रेल-यात्रा, बनारस के घाट-गलियाँ, 'लाल पान की बेगम' में किसी भी गाँव का घर-आँगन, द्वेष-प्रेम, बैलगाड़ियाँ, उनकी दौड़ और 'अब आदिम रात्रि की महक' में प्लेटफ़ार्म, खेत, नामहीन तालाब, यों ही कहीं भर गया पानी, अनेक चीज़ों की महक, 'विघटन के क्षण' की 'हवेली', विजया और चुरमुन—उनके ऐसे 'सुख' जिनकी ओर से पुरानी पड़ गई या पड़ती जाती दुनिया आँखें मूंद लेती है—यह सूची और भी लम्बी हो सकती है, लेकिन हो सकता है कि वह बहुत हद तक 'निजी' हो, और विजया और चुरमुन के दुःख-सुख की तरह ही उसे समझाया न जा सके। 'मन में पानी के अनेक स्मरण हैं' की तरह ही रेणु की रचनाओं के संस्मरण हैं, जो दूसरों के और दूर के होते हुए भी बहुत निजी और अपने हैं। और जिनकी याद करके अपने कितने ही संस्मरणों को उभारा जा सकता है और अपने को कितनी ही चीजों से जोड़ा जा सकता है। रोज़मर्रा ज़िन्दगी की बँधी-बँधाई सड़कों से उतरकर जो भी पगडंडी या बेकार पड़ी ज़मीन, जहाँ चाहे पेड़-पौधे हों या वह परती ही हो, मिलती है तो रेणु की कहानियों की ही याद आती है। खण्डहरों, उपेक्षित जगहों, 'सूनी' ज़िन्दगियों के कितने ही संस्मरण उनकी कहानियों में भरे पड़े हैं। उनकी कहानियों का 'देश' उतना महत्त्वपूर्ण नहीं है, जितना कि उसके बहाने ज़िन्दगी के तमाम पहलुओं से परिचय। रेणु की कहानियाँ इस हद तक निर्मम हो सकती हैं कि अपने चरित्रों और 'देश' के साथ बुरी-से-बुरी बीतने दें। लेकिन इसी प्रक्रिया में वह आपसे जीवन को स्वीकार कराती चलती हैं, और आपके मन को पक्का करके, वह संवेदना उपजाती हैं जिसे असली कह सकते हैं। इसका मतलब यह नहीं कि रेणु भावुकता से बिल्कुल अछूते हैं, कहीं-कहीं पर तो वह उसके मारे हुए हैं—और उनकी रचनाओं के खराब पक्षों में से यह एक है। लेकिन कुल मिलाकर मुझे रेणु इस तरह के लेखक लगते हैं जो चीज़ों को सहन कर सकते हैं, बहुत मोटी तरह से कहें तो पचा सकते हैं, तटस्थ होकर किसी 'बड़ी बात' को इस अन्दाज़ में कह सकते हैं कि उसका पूरा असर हो, लेकिन वह 'घटना' या 'दुर्घटना' बनकर आपको छा न ले। 'मैला आँचल' की लक्ष्मी हो, या 'परती : परिकथा' की इरावती या 'जलवा' की फातिमादि, या 'विघटन के क्षण' की विजया या 'आदिम रात्रि की महक' का करमा, सबकी कहानी रेणु एक निर्मम लगाव से कहते हैं। किसी तरह की खुशफहमी से वह बचते हैं—कम-से-कम स्थितियों को रखने में। इसके बाद वे भले एक ऐसा 'संसार' रच दें, जहाँ इन्हें थोड़ा-बहुत भूला जा सके। रेणु के इस निर्मम-लगाव का सबसे अच्छा उदाहरण शायद 'आदिम रात्रि की महक' कहानी है—'नाम'-धाम हीन करमा अपने सभी 'बाबुओं' के बारे में कुछ इसी निर्मम-लगाव के साथ बातचीत करता है। करमा ने इन बाबुओं के साथ काम करते हुए अनेक जगहों, चरित्रों और चीज़ों का इतिहास इकट्ठा कर लिया है—लेकिन इस इतिहास में कोई घटनाक्रम नहीं है, न ही कोई निश्चित अवधि या काल है—करमा इस इतिहास में से कहीं से भी हाथ बढ़ाकर अपने लिए कुछ प्राप्त कर सकता है। एक गन्ध के पीछे एक संसार है, एक बात से लगी हुई हज़ार बातें हैं, और एक दृश्य को देखकर सौ दृश्य उभरते हैं। इसी तरह 'विघटन के क्षण' कहानी में रेणु ८-९ साल की चुरमुन और १६ साल की विजया के दु:ख इस तरह कह जाते हैं कि पढ़ते हुए 'तकलीफ़' नहीं होती। लेकिन कहानी पढ़कर एक ओर रख दें तो चुरमुन का धूल में लोटना और रोना, एक कविता-पंक्ति की तरह बार-बार मन में उभर आते हैं···।

* आदिम रात्रि की महक : फणीश्वरनाथ रेणु, राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली ६, पृष्ठ १८२, मूल्य ५ रुपये।

रेणु के बारे में मुझे लगता है कि जितना वह रचते हैं, उसकी बात छोड़ें तो कुछ कह सकते हैं कि वह चीज़ों को जोड़ना बहुत अच्छी तरह जानते हैं। बल्कि कई बार तो मुझे यह भी लगता है कि उनके जोड़ने में ही उनकी 'रचना' का रहस्य है। 'आदिम रात्रि की महक' में करमा बाबुओं की ज़िंदगियाँ, जगहें, रेलवे प्लेटफार्मों, गाँव-खेत, मस्ताना बाबा की साधुगिरी, ऋतुएँ, उनकी महक—सब-कुछ को 'जोड़ता' चलता है—'कुत्ता रुककर करमा को देखने लगा। धनखेतों से बीच से गुज़रने वाली पगडंडी पकड़कर करमा चल रहा है। धान की बालियाँ अभी फूटकर निकली नहीं हैं···करमा को हेडक्वार्टर के चौधरी बाबू की गर्भवती घरवाली की याद आई। सुना है, डॉक्टरानी ने अन्दर का फोटो लेकर देखा है—जुड़वाँ बच्चा है पेट में !

···इधर 'हथिया-नच्छतर अच्छा झरा' था। खेतों में अभी भी पानी लगा हुआ है।···मछली ?

···पानी में माँगुर-मछलियों को देखकर करमा की देह अपने-आप बँध गई। वह साँस रोककर चुपचाप खड़ा रहा। फिर धीरे-धीरे खेत की मेड़ पर चला गया। मछलियाँ छल-मलाईं। आईने की तरह थिर पानी अचानक नाचने लगा··· (पृष्ठ ५३) इस जोड़ने में सब-कुछ समेट लेने का भाव नहीं है, न ही विस्तार···दरअसल करमा जितनी चीजों को जोड़ना चाहता है, रेणु उतनी ही जोड़ते हैं···

'विघटन के क्षण' कहानी में गाँव छोड़कर पटना जा बसे। एम० एल० ए० की भतीजी विजया है, उसे भी अब गाँव छोड़कर पटना जाना है, पुरानी हवेली में काम करने वाली आठ-नौ साल की चुरमुन है, जो गाँव की हँसी-खुशी गायब हो जाने के भय से आक्रान्त है—एक-एक कर सभी गाँव छोड़कर चले जाएँगे—साहू की दुकान से शहर के बहु-रंगी जीवन को जोड़ते हुए 'रेणु' कहते हैं···'अब क्या बतावें कि गोलपारक क्या है और कैसा होता है। वह देखने पर ही समझोगे। **मुँह की बोली में उतने किस्म का रंग कहाँ से लावेंगे ?'** लेकिन वे मुँह की बोली में 'उतने किस्म' का नहीं तो कई किस्म का रंग लाते हैं, और इतने से भी पूरा नहीं पड़ता तो कई तरह की गंध भी जुटा देते हैं···अपनी ओर से भरसक नाकनक्शा भी समझा देते हैं···इसी 'जोड़ने' की प्रक्रिया में रेणु की कहानियाँ अक्सर पटकथा लगती हैं। लेकिन चीजों को जोड़ने में माहिर रेणु कई बार अपनी कला के हाथों बँधे-बँधे, 'जड़ाऊ मुखड़ा' और 'नैना जोगिन' जैसी कहानियाँ भी लिख डालते हैं जो साफ 'किस्सा' बनकर रह जाती हैं। और जिनके रंग-गंध-चित्र, कहानी पढ़ने के बाद मन से पुँछ जाते हैं।

'आदिम रात्रि की महक', 'विघटन के क्षण' और 'जलवा' को छोड़कर संग्रह की प्राय: सभी कहानियाँ जिये जा रहे विभिन्न प्रकार के जीवनों, उनके दु:ख-सुख, आशा-निराशा, मजबूरी-स्वतंत्रता का या तो लेखा-जोखा मात्र हैं या फिर चित्रण-वर्णन। यह सही है कि ऐसे सभी जीवन, उनकी पकड़ में हैं और इस 'पकड़' को वह पाठकों तक पहुँचा भी देते हैं। लेकिन 'ले-देकर बात बराबर कर देने' वाली ये कहानियाँ, जिन्दगी के कुछ टुकड़े या पहलू ही पेश करके रह जाती हैं। जिनसे सहमति-असहमति का भी सवाल नहीं उठता, न स्वीकार-अस्वीकार का—अनुभूति के स्तर पर। 'ऐसा भी होता है या शायद ऐसा ही होता है' का एक उड़ता-सा खयाल भर वह दे जाती हैं। इसीलिए कई बार यह भी लगता है कि 'जोड़ने' की कुशलता अब उन्हें चूंकि बहुत रास आ गई है, इसलिए वह जोड़ते हुए रचने की बात कई बार भुला देते हैं। ऐसे में वह खतरा है कि उनकी कहानियाँ 'चरित्र-चित्रण' या चित्रण वाले अर्थ में सपाट न हो जाएँ—जिनमें शब्द तो सब ठीक और बहुत-कुछ अपनी जगह पर हों, लेकिन उनकी 'महक' गायब हो जाए।

समुद्र : स्वीकार के साथ

प्रयाग शुक्ल

रामकुमार की बहुत-सी कहानियाँ घेरों और सीमाओं की कहानियाँ हैं : 'पिकनिक', 'एक चेहरा', 'बारिश', 'दायरा', 'जानीन', 'समुद्र', 'सिमिट्री', 'आवाज़'··· सोचने पर कई नाम मन में तैर आते हैं। कुछ और सोचने पर, याद करने पर—वैसे इसकी ज़रूरत अक्सर नहीं पड़ती—इन नामों में छिपे संसार खुलने लगते हैं। कितनी ही शामों-दुपहरों के अँधेरे-उजाले, लगातार बारिश में डूबते-उतराते

१. समुद्र : रामकुमार : राजकमल प्रकाशन प्रा० लि०, दिल्ली-६।

मन, कितनी ही विवशताएँ, जर्जर होती चीजें, धुँधली होती आकृतियाँ, मध्यवर्गीय जीवन की ठहरी हुई गति, अलभ्य दूरियाँ, सब-कुछ का एक विवश स्वीकार, युवा आकांक्षाएँ जो धीरे-धीरे मन्द पड़ती जाती हैं। सब उभरने लगते हैं। रामकुमार की कहानियों का साथ न भूलने वाली चीज़ है। भावी 'सेलर' एक पार्क में बैठे-बैठे ही, जीवन की तोड़ती-मारती क्षुद्रताओं से लेकर आकांक्षाओं तक की परिक्रमा में आपके साथ रहता है। एक सुबह, दिल्ली की मध्यवर्गीय बस्तियों का जीवन 'सेलर' उघाड़कर रख देती है···जीवन की मन्द गति से कसमसाती हुई ज़िन्दगियाँ मानो एक अनोखी चमक से उजागर हो जाती हैं। लेकिन यह अनोखी जादुई चमक ज्यादा देर तक ठहरती नहीं। रामकुमार इस अनोखी चमक का इस्तेमाल किसी प्रदर्शन के लिए नहीं करते। समझने-समझाने के दौरान ही यह रचनात्मक चमक, मानो स्वयं कहीं छिपी रहकर, चीजों को उघाड़ती चलती है। कुछ इस तरह कि आप सब-कुछ देख लें, हर दृश्य आपके मन में बस जाए, देखी हुई चीज़ों की असली तसवीर उभर आए—आप उसे पहचान लें। 'पिकनिक' हो या 'समुद्र', अँधेरी सुरंगों या तहों की तरह मन के अँधेरे, अनछुए कोने और कोण प्रकाशित होकर फिर बुझ जाते हैं। लेकिन चूँकि वे एक बार दिख जाते हैं, इसलिए कभी भूलते नहीं। रामकुमार उन्हें बराबर के लिए प्रकाशित छोड़ दें या उन पर किसी खास ही कोण से प्रकाश डालें—ऐसा नहीं होता। उनके अन्य समकालीनों ने यह काम बहुत किया है और कहानी को पठनीय ही नहीं 'दर्शनीय' बनाने की कोशिश भी की है। इसीलिए ऐसी 'दर्शनीय' कहानियों के पाठकों को रामकुमार की कहानियाँ सपाट, नीरस और उबाऊ भी लग सकती हैं। जहाँ तक रामकुमार की कहानियों के शिल्प या ऊपरी ढाँचे का सवाल है, यह सही है कि वह इतना नया नहीं है कि उसे प्रयोग कहें। लेकिन रामकुमार ने इस ऊपरी ढाँचे के भीतर-ही-भीतर अपना शिल्प गढ़ा है, जो 'पिकनिक', 'समुद्र', 'स्टीमर' आदि कहानियों में ज्यादा मुखर है।

'समुद्र' की सभी कहानियाँ पत्र-पत्रिकाओं में पढ़ चुका था—संग्रह में '६२ से लेकर '६६ तक की कहानियाँ हैं। इन्हें दोबारा पढ़ते हुए एक बार फिर लगा कि रामकुमार की कहानियाँ असुविधाजनक स्थितियों से पाठक को कोई असुविधा न होने देने के प्रयत्न में, उसे सहज ही अपना आत्मीय बना लेती हैं। जहाँ दोनों पक्ष यह समझ जाते हैं कि बात बिना कहे हुए ही खुल गई है, लेकिन आँखें कोई नहीं चुराता, सह-अनुभूति में बँधे दोनों चुपचाप चलते जाते हैं और जब अलग होते हैं तो यह अलगाव मात्र 'शारीरिक' होता है। बीच में टूट गये संवाद, अचानक रोक लिये गए सोच, कहें कि न कहें की दुविधा—रामकुमार की कहानियों में बार-बार झलकते हैं। लेकिन यह किसी प्रकार का संकोच मात्र नहीं है—यह मन के 'कड़े' होने या कड़ा किए जाने की निशानी है, स्थितियों का सहज स्वीकार है। 'समुद्र' कहानी में पत्नी को विवाहित जीवन के बाद मानो सब-कुछ अपरिचित लगने लगता है—पति के साथ कुछ दिनों के लिए समुद्र-तट में आकर। लेकिन यह ऐसा अपरिचय है जो उसे विवाहित जीवन के पन्द्रह वर्षों से ही नहीं, खुद से उसे परिचित कराता है। 'पत्नी के मन में एक हल्का-सा आक्रोश भरा जा रहा था। वह यहाँ क्यों आई? समुद्र देखने की कभी इच्छा नहीं हुई, बच्चों से दूर अपने पति के साथ अकेले कुछ दिन काटने का मतलब भी समझ में नहीं आ रहा। उसे स्पष्ट रूप से यहाँ आने से इन्कार कर देना चाहिए था, कुछ देर वे झुँझलाते, कुछ झगड़ा भी हो जाता, लेकिन यह घबराहट, यह बेचैनी तो न होती।' (पृष्ठ ११४)····'घर में जिन छोटी-छोटी बातों पर कभी उसका ध्यान नहीं गया, उन्हीं के बारे में सोचते हुए कितना समय बीत जाता, इसका आभास होने पर अपनी स्थिति पर उसे कम आश्चर्य नहीं होता। केवल पति का स्वभाव, उनकी आदतें, उनकी बिना मतलब की बातें ही नहीं बल्कि शारीरिक रूप से भी कभी-कभी वे ऐसे लगते जिसका विरोध किये बिना उसका मन नहीं मानता था। आज तक जो इतना स्वाभाविक और सत्य बन गया था, उसके प्रति अकस्मात सन्देह उपजना, उसे भयंकर जान पड़ा।' (पृष्ठ ११५)····'जितना ही वह सोचती, उसे लगता जैसे उसने कोई भयानक भूल की हो जिससे कभी छुटकारा नहीं मिल सकेगा। वह महसूस करती कि अब घर लौट जाने के बाद भी वह पहले की भाँति अपने पति और बच्चों के साथ नहीं रह सकेगी। घर वापस लौटने की बात से ही वह काँप उठती और यहाँ भी नहीं रहा जा सकता···' 'अपने प्रति न जाने कैसी घृणा-सी मन में उमड़ने लगी।' (पृष्ठ १२०-२१)।

उद्धरणों से, चाहे वे छोटे हों या बड़े, कभी पूरी बात सामने नहीं आ पाती, लेकिन वे बात के लहज़े, उसकी भाषा

को तो सामने रखते ही हैं। राकुमार की कहानियों की भाषा, सीधी, सरल है और उसमें नकलीपन नहीं है। लेकिन ऐसा भी नहीं है कि रामकुमार शब्दों के रख-रखाव के प्रति सचेत न हों। बात को बिना फैलाये, किन शब्दों में और कितने शब्दों में कहा जा सकता है, इसे वे जानते हैं। 'पिकनिक' कहानी में सीधे-सादे चुस्त वाक्य मानों एक रूखेपन से सब-कुछ कहते चले जाते हैं, लेकिन थोड़ी देर में पाते हैं कि एक करुणामिश्रित व्यंग्य उनमें सिमट आया है, जिससे 'छुटकारा' नहीं—मि० सरकार की सम्पन्नता के बीच कुछ मध्यवर्गीय बूढ़ों की एक दिन की पिकनिक उन्हें यह बतला देती है कि लाख कोशिश करने पर भी वे बरसों जिये गये जीवन से मानो क्षण-भर के लिए भी अपने को अलग नहीं कर सकते···ऐसी बात नहीं है कि वे इस बात को जानते नहीं थे। सिर्फ यही कि जानकर भी वे इसे 'अस्वीकार' करना चाहें तो भी वे ऐसा नहीं कर सकते···

पिकनिक के बूढ़े हों या समुद्र की पत्नी, इन्हें एक लम्बे बँधे-बँधाये जीवन के बाद कुछ समय ऐसा मिलता है जिसे वे अपने पिछले जीवन से भिन्न समझ सकें···लेकिन अबतक शायद बहुत देर हो चुकी है···'गठिया के पुराने रोग ने ऐसा जकड़ा कि उस दिन की पिकनिक के विचार से ही मैं काँप-सा जाता। घरवालों को उपदेश देने का इससे अच्छा अवसर और कौन-सा मिलता ! यह उम्र पिकनिकों की नहीं रही, अब तो घर पर बैठकर ही आराम करना चाहिए। जो थोड़ी-सी शक्ति बची है, उसे राम-नाम में ही खर्च करना चाहिए··· मैं चुपचाप उनकी बातें सुनता रहा, कभी क्रोध आता था, केवल अब और उदासीनता की भावना ही उभर आती···'

(पिकनिक)

'वह सोचता था कि वापस लौटने के विचार से पत्नी को प्रसन्नता होगी। इसी कारण प्रायः वह कभी घर की बातें करता, कभी बच्चों की, लेकिन पत्नी ने कोई विशेष उत्साह नहीं दिखलाया। एक उदासीनता की छाया जमी रही···'

(समुद्र)

न सिर्फ़ यही कि अब नया जीवन शुरू नहीं किया जा सकता, यह भी कि पहले भी पता चल जाने पर, जो जीवन जिया गया, उससे भिन्न जीवन शायद नहीं जिया जा सकता था। 'चेरी के पेड़' के बच्चे तब भले न समझ पाए हों, बड़ी बहन ने इस कठोर-सत्य को पहले ही जान लिया था। अपने मन का जीवन जीने की 'छूट' नहीं है। लेकिन रामकुमार की कहानियाँ 'सेलर' और 'अतीत' से बनाये रखना चाहती हैं—'अतीत' में बचपन का दोस्त तो कहीं खो गया है, लेकिन उसके पुराने रूप का उसी का लड़का अभी है, और 'सेलर' में पिता जो कुछ खो चुका है, उसे उसका लड़का शायद प्राप्त करे। यह एक मोटी व्याख्या है। लेकिन रामकुमार की कहानियों के कतिपय रूप इससे पता चल सकते हैं।

रामकुमार मध्यवर्गीय युवा मन को, उसकी आकांक्षाओं-निराशाओं को, पहचानते हैं, कई बार यथातथ्य लगने वाले चित्रण के बीच भी वे इस पहचान को इस तरह प्रकट कर देते हैं कि किसी क़िस्म के 'संदेह' की गुंजायश बाकी नहीं रहती—'यात्रा', 'स्टीमर', 'आवाज़' कहानियों में इस युवा-मन के द्वन्द्व, संघर्ष, तनाव, प्रेम-सम्बन्ध, छटपटाहट, विवशताएँ और कुल मिलाकर एक विवश स्वीकार मार्मिक संस्मरणों की तरह याद रह जाते हैं। ढेर-सा समय है, जिसे भरने के लिए साधन नहीं हैं—इसमें चाहे-अनचाहे जो कुछ भी आ गिरता है, उसे स्वीकार करने के अलावा कोई चारा नहीं—'आवाज़' कहानी का युवक मुर्गों के कटने के दृश्य से लेकर, एक नेपाली नौकर की प्रेम-कहानी, चोरी, और परिचित चाचा-चाची व उनकी बेटियों के संघर्ष का भागीदार है। चाहें तो दर्शक कह लें—ऐसा दर्शक जिसे न तो 'तटस्थ' रह सकने का सुख प्राप्त है, और न ही कुछ कर सकने की क्षमता।

लेकिन पिछले दिनों युवा मन पर, मध्यवर्गीय युवा मन पर जो चोटें पड़ी हैं, और उसकी स्थिति जिस तरह बदलती रहती है, उससे अब न तो उसे सोच का 'इतमीनान' प्राप्त है और न वैसा संसार जो रामकुमार की कहानियों में मिलता है। लगातार चक्कर खाकर घूमती रहने वाली किसी चीज़ की तरह वह किसी स्थिति-विशेष के केन्द्र से छिटक रहा है। और कोई आश्चर्य नहीं कि उसे इन कहानियों का संसार 'अतीत' लगने लगे; लेकिन अगर यह अतीत हो भी तो ऐसा अतीत है, जिसे भुलाया नहीं जा सकता। यहीं आकर लगता है कि रामकुमार की कहानियों को भी अब स्थिति-विशेष के केन्द्रों से छिटकना होगा, क्योंकि इस संग्रह से अलग भी उनकी जो कहानियाँ इधर प्रकाशित हुई हैं, उनका संसार, उनकी पिछली कहानियों से भिन्न नहीं है। यह सही है कि हर लेखक का अपना एक संसार होता है, जरूरी नहीं है कि

वह बराबर व्यापक ही हो, और बदले ही। लेकिन यह अपना संसार भी अगर कहीं थमने लगे तो उसे फिर से एक हलचल से भरने की जरूरत हो सकती है—या उतने को ही उलट-पुलट किया जा सकता है। रामकुमार की कहानियों के बारे में ऐसा आग्रह इसलिए भी है कि जैनेन्द्र, अज्ञेय के बाद वे पहले कथाकार हैं, जिन्होंने कहानियों के माध्यम से सब-कुछ को देखने-समझने का 'ठोस आधार' दिया था 'चोरी' से लेकर 'समुद्र' तक की कहानियों में, बनते-टूटते सम्बन्धों को अकेले-पन, संघर्ष को तथा भाग्य-संयोग से अलग करके जीवन की स्थितियों को, इस तरह देखा गया है कि बहुत-कुछ सोचा-समझा जा सके। इसीलिए उनसे एक बार फिर कोई अपेक्षा स्वाभाविक है।

रामकुमार की कहानियाँ इस ओर भी इशारा करती हैं कि सीधी-सरल बात के बहाने ज़िन्दगी के बड़े सवालों को भी छुआ जा सकता है—बिना बात पैदा करने की कोशिश किये हुए ही बात पैदा की जा सकती है। क्योंकि ढूँढ़ना चाहने वाले उनकी 'सिमिट्री', 'बारिश', 'पिकनिक' आदि कहानियों में अस्तित्ववादी या कुछ वैसी ही व्याख्याएँ भी ढूँढ़ सकते हैं। मेरे लिए तो इतना ही काफ़ी है कि वह सच्चे मन से आदमी के सुख-दुख से, उसकी शंकाओं-सवालों से जुड़ती हैं, और दूसरों को अपने सह-अनुभव के माध्यम से चीज़ों को समझने का आश्वासन देती हैं।



श्रीमती शीला सन्धू, मैनेजिंग डायरेक्टर, राजकमल प्रकाशन प्राइवेट लि०, ८, फ़ैज़ बाज़ार, दिल्ली के लिए नवीन प्रेस, दिल्ली में मुद्रित।